CC0.In Public Domain. Digitized by Sarayu Trust/eGangotri

14.5

मूल जैन-संस्कृति : अपरिग्रह

लेखक :
श्री पद्मचन्द्र शास्त्री
नई दिल्ली-२

प्राप्ति-स्थान :
वीर सेवा मन्दिर
२१, दरियागंज, नई दिल्ली-२

Ganesh Varni Digambar Jain Institute, Naria, Varanasi

CC0.In Public Domain. Digitized by Sarayu Trust/eGangotri

समर्पण

'हम इकट्ठा करने में रहे और सब कुछ खो दिया।'—यह एक ऐसा सत्य है जिसे लाखों-लाख प्रयत्नों के बाद भी झुठलाया नहीं जा सकता। हम जैसे-जैसे जितना परिग्रह बढ़ाते रहे वैसे-वैसे उतना 'जैन' हमसे खिसकता गया और आज स्थिति यह है कि हम जैन होने के साधन-भूत श्रावकोचित आचार-विचार में भी शून्य जैसे हो गए।

लोगों ने जड़ों की उन्होंने खोजें कीं, सारा ध्यान उन पर शोध-प्रबन्धों के लिखने में केन्द्रित किया उन्हें प्रकाशित कराया और उन पर वे विविध लौकिक पारितोषिक पाते रहे। आत्मा की कथा करने वाले बड़े-बड़े वाचक भी परिग्रह-संचयन में लगे रहे और वे भी अहिंसा, दान आदि के विविध आयामों से विविध रूपों में परिग्रह-संचयन और मान-पोषण आदि में लीन रहे जिससे वीतरागता का प्रतीक 'अपरिग्रहत्व-जैनत्व' लुप्त होता रहा। हमारी दृष्टि में 'अपरिग्रहवाद' को अपनाने के सिवाय 'जैन-धर्म' के संरक्षण का अन्य उपाय नहीं।

पुस्तिका में प्रस्तुत उद्गार 'वीर सेवा मन्दिर-पुस्तकागार' के ग्रन्थालोडन के सद्परिणाम हैं—लेखक ने सब वहीं से पाया है। फलतः—लेखक द्वारा स्व-प्रकाशित प्रस्तुतसंस्करण और संस्करण के सभी अधिकार 'वीर सेवा मन्दिर को सादर समर्पित हैं।

दीपावली : वी० नि० सं० २५१२

—पद्मचन्द्र शास्त्री

Ganesh Varni Digambar Jain Institute, Naria, Varanasi

CC0.In Public Domain. Digitized by Sarayu Trust/eGangotri

5248

मूल-जैन-संस्कृति : अपरिग्रह

'संस्कृति' शब्द बड़े गहरे भाव में है और इसका सम्बन्ध वस्तु की स्व-आत्मा से है। संस्कार किया हुआ रूप 'संस्कृत' कहलाता है और संस्कृत हुए शुद्धरूप की धारा संस्कृति होती है। विकसित स्व-गुणों की धारा होने से 'संस्कृति' स्थायी होती है। कोष में संस्कार का अर्थ 'शुद्ध किया जाना' लिखा है और संस्कृति संस्कार किए गए—संस्कृत रूप से प्राप्त है अतः 'संस्कृति' का स्थायित्व स्वयंसिद्ध है। इसके विपरीत—'असंस्कृति'—पर अर्थात् अन्यों से प्रभावित बहुरूपियापन से लदी—अस्थायीरूप होती है। क्योंकि बहुरूपियापन उधार लिया हुआ नाशवान रूप होता है—वह स्थायी नहीं होता। उदाहरणार्थ—स्वर्ण का रूप निखरना उसका संस्कृति होना होता है और निखरे हुए इस संस्कृत रूप से पनपने वाली संस्कृति होती है। ऐसे ही अन्यत्र समझना चाहिए। लोगों ने संस्कृति शब्द को व्यवहार परक रीति-रिवाज, वेश-भूषा आदि अन्य अनेक अर्थों में भी लिया है—सो वह व्यवहार ही हैं—वास्तविक नहीं।

'जिन' शब्द पारिभाषिक और व्यवहार-परक है और यह (कर्मों को) जीतने वाले शुद्ध आत्माओं को इंगित करता है। 'जिन' का धर्म जैन कहलाता है। इस धारा का ऐसा प्रवाह जो स्वयं शुद्ध हो या शुद्धि में निमित्त हो सके 'जैन-संस्कृति' है।

यह कोई नहीं जानता कि जैन संस्कृति कब से चली आ रही है? तीर्थंकर ऋषभदेव की यह देन है यह कथन भी व्यवहार है। वास्तव में तो तीर्थंकर ऋषभदेव भी तीर्थंकरों की अनादि परम्परा में इस युग की प्रथम कड़ी थे; जिन्होंने इस संस्कृति को पुनः उजागर किया। कोई-कोई लोग तो जैन-संस्कृति को भगवान महावीर की देन मानने के भ्रम में हैं। पर, स्मरण रखना चाहिए कि 'जैन-संस्कृति' वह है जो मूल अनुसरणी है—मूल के विपरीत नहीं है। ये संस्कृति जिनसे प्रकाश में आई वे 'जिन' अपरिग्रही—शुद्ध आत्मा का अनादि मूल रूप ही हैं। हाँ, जैन-संस्कृति की भांति संस्कृति शब्द का व्यवहार मानव आदि अनादिवर्ती अस्तित्वों के साथ भी हो सकता है जैसे मानव-संस्कृति आदि।

यदि हम जैन-संस्कृति, मानव-संस्कृति, आत्म-संस्कृति आदि कहें तो ठीक बैठ जाता है; क्योंकि ये सदा से हैं और सदाकाल रहेंगे और इनके अपने

Ganesh Varni Digambar Jain Institute, Naria, Varanasi

CC0.In Public Domain. Digitized by Sarayu Trust/eGangotri

रूपों से अपनों में भेद न होगा, जब कि हिन्दू का हिन्दू से, मुसलमान का मुसलमान से भेद हो जाएगा। ध्यान रहे पंथ-संप्रदाय के आधार से पनपने वाली कथित संस्कृति (?) उसके अनुयायियों से अनेकों भेदों में बँट जायेगी। जैसे दि० जैन, श्वेताम्बर जैन, तेरहपंथी जैन, बीसपंथी जैन तथा शिया-मुसलमान—सुन्नी-मुसलमान आदि। पर, आत्मा, मानव या 'जिन' में ऐसा नहीं होता—सभी अपने लक्षणों, गुणों से अपने में एक जैसे अखण्ड हैं इनके लक्षणों-गुणों में कभी अन्तर न आयगा। यदि कभी कहीं किसी प्रकार का अन्तर दिखेगा तो वह मूल की अपेक्षा न होकर परप्रभावित—विकारी आधारों से प्रभावित असंस्कृत अवस्था का ही रूप होगा।

'संस्कृति' शब्द से मूलस्वभाव की धारा अभिप्रेत है और 'जैन-संस्कृति' जिन अर्थात् आत्मा के शुद्ध एकाकी शुद्ध मूलरूप को इंगित करती है। फलतः 'जैन-संस्कृति' में आत्मा के मूल विकास में कारणभूत—पर से निवृत्ति यानी परिग्रह के त्याग को प्रमुखता दी गई है। अन्तरंग परिग्रह राग-द्वेष, मोहादिक और बाह्य परिग्रह सांसारिक सभी पदार्थों से निवृत्ति, आत्मा के स्व-मूलरूप के प्राप्त करने में साधन है। अहिंसा आदि सभी आचार-धर्म भी परिग्रह-निवृत्ति मूलक हैं। अतः मूल जैन-संस्कृति 'अपरिग्रह' है और किंचित भी परिग्रह न रहना आत्मा की शुद्ध 'जिन' दशा है—जिससे यह 'संस्कृति' पनपी और प्रकाश में आई और जैन-संस्कृति कहलाई।

लोक में 'अहिंसा परमो धर्मः' जियो और जीने दो' आदि जैसे नारे, जो आचार परक हैं और जिन्हें मूल जैन-संस्कृति से जोड़ा जा रहा है वे सभी नारे भी अपरिग्रह मूलक ही हैं अर्थात् वे 'जिन' की स्वभाव परक अपरिग्रहरूप संस्कृति के फलीभूत कार्य हैं। ऐसे नारों का सद्भाव जैनों को सिवाय जैनेतरों में भी है—जैनेतर भी हिंसा, झूठ, चोरी, कुशील जैसे पापों की भर्त्सना करते हैं, भले ही वे जैनियों की भांति इनके सूक्ष्म रूपों पर न पहुंचे हों। हां, वे अन्त तक पूर्ण अपरिग्रह के पोषक नहीं। उनके ईश्वर भी परिग्रह के पुजारी और परि-ग्रह से आवृत रहे हैं जब कि 'जिन'—अर्हन्तों में 'अपरिग्रह' की पूर्णता है।

ऐसा मालूम होता है कि 'अहिंसा परमो धर्मः' आदि नारे 'मारो या मरने दो' जैसे नारों के प्रतिद्वन्द्वी हैं। सम्भवतः इनका अधिकांशतः प्रचलन, नारद-पर्वत संवाद जैसे अन्य बहुत से प्रसंगों का फलीभूत कार्य हो, जब 'अज' का अर्थ बकरा किया जाने लगा हो। या तीर्थंकर महावीर के समकालीन हो जब कि धर्म के नाम पर हिंसा का बोलबाला हो चुका हो। अन्यथा भगवान नेमिनाथ से पहिले हिंसा के ऐसे प्रसंग बिरले ही रहे होंगे। युग के प्रारम्भ में

Ganesh Varni Digambar Jain Institute, Naria, Varanasi

CC0.In Public Domain. Digitized by Sarayu Trust/eGangotri

भ० ऋषभदेव के समय में ऐसा प्रसंग नहीं था। तब तो राजदण्ड में भी हा, मा, और धिक् जैसे दयापरक शब्द दण्ड थे। भरत-बाहुबली का स्वयं व्यक्तिगत युद्ध करना स्वाभाविक हो प्राणियों पर दया का परिचायक है। उस समय का वातावरण (जीवन में और आयु के अन्त तक में भी) परिग्रह-निवृत्ति और संयम धारण के लक्ष्य का था। 'पंच समिदो तिगुत्तो पंचेदियसंवुडो जिदकसाओ। दंसण-णाण समग्गो समणो सो संजदो भणिदो।—प्र० सा० ३।४०

दूसरी महत्वपूर्ण बात यह है कि जैनों में सदा से ही वीतरागता प्राप्ति और परिग्रह निवृत्ति कों ही प्रमुखता दी जाती रही है। इसीलिए सभी तीर्थंकरों के साथ वीतरागी जैसे विशेषण को जोड़ने का प्रचलन रहा है जैसे—वीतराग ऋषभ, वीतराग महावीर आदि। कभी, कहीं किसी तीर्थंकर को (अहिंसक होते हुए भी) अहिंसक जैसे विशेषण से सम्बोधित करने का प्रचलन नहीं रहा। जैसे—अहिंसक ऋषभ या अहिंसक महावीर आदि। यतः ये सब धर्म परिग्रह-निवृति पर ही आधारित हैं।

जब हम हिंसादिक के लक्षणों पर दृष्टिपात करते हैं तब वहां भी हमें परिग्रह की ही कारणता दिखती है—'प्रमत्तयोगात् प्राणव्यपरोपणं हिंसा।' इसमें प्रमत्त (प्रमाद) को परिग्रह ही जानना चाहिए। इसका अर्थ है—प्रमाद के योग से प्राणों का घात हिंसा है। आगे भी प्रमाद की मुख्यता दिखाई देती है। जैसे—

१. यत्खलु कषाय योगात् प्राणानां द्रव्यभावरूपाणाम्।
व्यपरोपणस्य करणं सुनिश्चिता भवति सा हिंसा ॥४३॥
युक्ताचरणस्य सतो रागाद्यावेशमन्तरेणापि।
न हि भवति जातु हिंसा प्राणव्यपरोपणादेव ॥४५॥
व्युत्थानावस्थायां रागादीनां वशप्रवृत्तायाम्।
म्रियतां जीवो मा वा धावत्यग्रे ध्रुवं हिंसा ॥४६॥
तस्मात् प्रमत्तयोगे प्राणव्यपरोपणं नित्यम् ॥४७॥
यस्मात् सकषायः सन् हन्त्यात्माप्रथममात्मानम् ॥४८॥ पुरु० ४३-४८

—'निश्चय ही कषाय (प्रमाद) रूप परिणमित हुए मन-वचन-काय से जो द्रव्य और भावरूप दो प्रकार के प्राणों का घात करना है वह हिंसा है। योग्य आचरण वाले सन्तपुरुष के रागादिक भावों के अनुप्रवेश के विना केवल प्राणपीड़न से हिंसा कदाचित् भी नहीं होती। रागादिक भावों के वश में प्रवृत्ति रूप—अयत्नाचाररूप प्रमाद अवस्था में जीव मरो, अथवा न मरो हिंसा

Ganesh Varni Digambar Jain Institute, Naria, Varanasi

CC0.In Public Domain. Digitized by Sarayu Trust/eGangotri

अवश्य है। प्रमाद के योग में निरन्तर प्राण घात का सद्भाव है, आत्मा कषायभावों सहित होने से पहिले अपने ही द्वारा आपको घातता है।' आदि।

जैसे हिंसा में प्रमाद मूल कारण है वैसे अन्य सभी पापों में भी प्रमाद ही मूल है—'प्रमत्तयोगादिति हेतु निर्देशः।'—त० रा० वा० ७।१३।५

'तन्मूलासर्वदोषानुषङ्गा.....ममेदमिति हि सति संकल्पे रक्षणादय संजायन्ते। तत्र च हिंसाऽवश्यं भाविनी तदर्थमनृतं जल्पति, चौर्यं चाचरति, मैथुनं च कर्मणि प्रतिपतते।'—वही ७।१७।६

सर्व दोष परिग्रहमूलक हैं। यह मेरा है, ऐसे संकल्प में रक्षण आदि होते हैं उनमें हिंसा अवश्य होती है, उसी के लिए प्राणी झूंठ बोलता है, चोरी करता है और मैथुनकर्म में प्रवृत्त होता है। फलतः—यदि ममत्व आदि रूप अन्तरंग व धन-धान्यादि बहिरंग दोनों परिग्रह न हों तो हिंसा आदि का प्रश्न ही नहीं उठता। क्योंकि कारण के बिना कार्य नहीं होता—'जेण विणा जं ण होदि चेव तस्स कारणम्।'—धव० १४।५, ६, ९३।९०।२

परिग्रह को सर्वपापों की जन्मभूमि भी कहा है—"क्रोधादिकषायाणामार्तरौद्रयोर्हिंसादिपंचपापानां भयस्य च जन्मभूमिः परिग्रहः।' चा०सा०पृ० १९

'मिथ्याज्ञानान्वितान्मोहान्ममाहंकारसंभवः।
इमकाभ्यां तु जीवस्य रागो द्वेषस्तु जायते॥
ताभ्यां पुनः कषायाः स्युर्नोकषायाश्च तन्मयाः।
तेभ्यो योगः प्रवर्तन्ते ततः पाणिवधादयः॥'

—तत्त्वानु० १६, १७

'मिथ्याज्ञानयुक्त मोह से ममकार और अहंकार होते हैं और ममकार व अहंकार से जीव के राग-द्वेष होते हैं उनसे कषाय-नोकषाय होते हैं' उनसे योग प्रवर्तित होते हैं, उनसे प्राणि-वध आदि होते हैं।

व्यवहार में भी अहिंसा धर्म को दया, करुणा, अनुकम्पादि द्वारा प्रेरित और मन-वचन-काय, कृत-कारितअनुमोदना तथा क्षमा-मार्दव-आर्जव-शौचादि पूर्ण धर्मों से संपुष्ट होना अवश्यम्भावी है। वर्तमान में जिसे अहिंसा-धर्म मानने का प्रचलन चल पड़ा है उसमें यद्यपि दया-करुणा आदि रूपों की प्रेरणा तो परिलक्षित होती है पर अन्य धर्मों की संपुष्टि में खामियां रह जाती हैं, फिर चाहे वह श्रावक सम्बन्धी अहिंसा हो या मुनि सम्बन्धी हो। इसमें मुख्य कारण परिग्रह (प्रमाद) का सद्भाव ही है। कहा भी है—

अहिंसा भूतनां जगति विदितं ब्रह्म परमं,
न सा तत्राऽऽरम्भोऽस्त्यणुरपि च यत्राश्रमविधौ।

Ganesh Varni Digambar Jain Institute, Naria, Varanasi

CC0.In Public Domain. Digitized by Sarayu Trust/eGangotri

ततस्तत्सिद्धयर्थं परम-करुणो ग्रन्थमुभयं,
भवानेवाऽत्याक्षीन्न च विकृत-वेषोपधि-रतः ।।' स्वयंभूस्तोत्र २१।४

प्राणियों की अहिंसा जगत में परमब्रह्म—अत्युच्चकोटि की आत्मचर्या जानी गई है और वह अहिंसा उस आश्रम विधि में नहीं बनती जिस आश्रम विधि में अणुमात्र—थोड़ा सा भी आरम्भ होता है। अतः उस अहिंसापरम-ब्रह्म की सिद्धि के लिए परम करुणाभाव से सम्पन्न अपने ही बाह्याभ्यन्तररूप से उभय प्रकार के परिग्रह को छोड़ा है—बाह्य में वस्त्रालंकारादिक उपाधियों का और अन्तरंग में रागादि भावों का त्याग किया है.....।।

सूक्ष्म हिंसा भी पर-वस्तु के कारण से (ही) होती है, अतः हिंसा में कारणभूत परिग्रह का त्याग करना चाहिए। कहा भी है—

'सूक्ष्मापि न खलु हिंसा परवस्तुनिबन्धना भवति पुंसः।
हिंसाऽऽयतननिवृत्तिः परिणामविशुद्धये तदपि कार्या ।।'

पुरु० अमृतचन्द्राचार्य ४९

कहा जा सकता है कि यदि जैन-संस्कृति में 'अहिंसा परमोधर्मः' की प्रधानता नहीं तो आचार्य ने हिंसाऽनृतस्तेयाऽब्रह्मपरिग्रहेभ्यो विरतिर्व्रतम्' इस सूत्र में हिंसा के वर्जन का प्रथम रूप में उपदेश क्यों दिया? परन्तु स्मरण रखना चाहिए कि जैसे नीची सीढ़ियों से चढ़कर ऊपर पहुंचा जा सकता है वैसे ही अणुव्रतों का अभ्यास कर, पूर्ण अपरिग्रही दशा को प्राप्त करने के लिए अहिंसा आदि आचारों (महाव्रतों) की श्रेणियों से गुजरना होता है। महाव्रत आदि की श्रेणियों में अपरिग्रह की श्रेणी अन्तिम और उत्कृष्ट है अहिंसादि पहिली श्रेणियाँ अन्तिम सीढ़ी आने पर छूट जाती है। जो जीव अहिंसादि आचारों के पूर्ण अभ्यासी होते हैं उन्हें पूर्व के चार महाव्रतों की पूर्णता के बाद भी परिग्रह से मुक्ति के लिए लम्बा और कठिन संघर्ष करना पड़ता है, तब कहीं बारहवें गुण स्थान में उन्हें वीतरागता की प्राप्ति होती है जब कि अहिंसा आदि महाव्रतों की पूर्णता इस गुणस्थान से पहिले सातवें (अप्रमत्त) गुणस्थान में अथवा 'अप्रादुर्भावः खलु रागादीनां भवत्यहिंसेति' के पक्ष में दशवें गुणस्थान में ही हो लेती है। इससे मालूम होता है कि परिग्रह की जड़ें बड़ी मजबूत हैं और जो महाव्रतों की पूर्णता में भी नहीं कटतीं बाद को भी बहुत कुछ करना पड़ता हैं। यही कारण है कि—'अपरिग्रहत्व' को बाद में गिनाया, जिसकी पूर्णता का संकल्प दीक्षा के समय किया था।

ऐसा मालूम होता है कि गत समय में भ० महावीर के पश्चात् जैनियों ने शिथिलाचार-प्रवृत्तिवश कष्टसाध्य संयम से बचने के लिए 'अपरिग्रह' जैसी

Ganesh Varni Digambar Jain Institute, Naria, Varanasi

CC0.In Public Domain. Digitized by Sarayu Trust/eGangotri

कठोर—मूलसंस्कृति को भुलाकर अहिंसा आदि आचारों को मूल संस्कृति से बढ कर दिया। यही कारण है कि जहाँ प्रथमानुयोग के शास्त्रों में पूर्वकाल में परिग्रह-त्यागी लाख-लाख और करोड़ दि० मुनियों के विहार और मोक्ष होने के उल्लेख मिलते हैं, वहां भगवान महावीर के बाद उस संख्या में ह्रास होता चला गया। आज स्थिति है कि परिग्रह त्यागी दि०मुनियों की संख्या अंगुलियों पर गिनने लायक ही शेष रह गई है। कारण कि आज लोग मूल जैन संस्कृति—अपरिग्रहवाद की उपेक्षा कर परिग्रह-पुष्ट अहिंसादि जैसे आचार को जैन-संस्कृति, मान, दया-करुणा दान आदि द्वारा उन्हें पोषण देने के अभ्यासी बनने की चेष्टा करने लगे हैं। इसका फल आज यहां तक पहुंच गया है कि वे न्याय-अन्याय-जिस किसी भी भांति हो, परिग्रह की बढ़वारी में जुट पड़े हैं और उनका ध्यान लाखों कमाकर हजारों मात्र दान देने की ओर केन्द्रित होता जा रहा है। इससे उनका विषयाभिलाषा पूरक परिग्रह भी बढ़ता है और उन्हें इन्द्रिय-दमन के कष्ट-सहन से मुक्ति भी मिली रहती है साथ ही वे यश और प्रतिष्ठा भी पाते रहते हैं जो उन्हें इष्ट है। यदि ऐसा न कर वे अपरिग्रह को प्रमुखता दिए रहकर उसकी पुष्टि में प्रयत्न शील रहते तो निःसन्देह जैन का इतना ह्रास न होता।

कई मनीषी ऐसा विचार करते हैं कि आत्म-परिणामों के हिंसक होने से असत्य, चौर्य, मैथुन आदि सभी हिंसा रूप ही है और परिग्रह भी हिंसा में कारण होने से हिंसा ही है अथवा प्रमाद भी हिंसा में कारण होने से हिंसा ही है। ऐसे मनीषियों से हमारा निवेदन है कि—'सूक्ष्मं जिनोदित तत्वं'—जिनेन्द्र का बतलाया तत्व बड़ा सूक्ष्म है—और उसे सूक्ष्मता से ही देखना चाहिए। मूलरूप में कारण और कार्य का व्यवहार जैसे पृथक् है वैसे ही सत्ता की दृष्टि से उनका अस्तित्व भी पृथक् है और इसी कारण उन्हें कार्य और कारण जैसी दो श्रेणियों में रखा गया है। प्रस्तुत प्रसंग में जो प्रमाद को हिंसा कहा गया है, वह कारण में कार्य का उपचार मात्र है। ऐसा प्रयोजन यह इंगित करने के लिए ही किया गया है कि हिंसादि में प्रमाद की सर्वथा मुख्यतः है। यह व्यवहार 'अन्नं वै प्राणः' की श्रेणी का ही है, जहां जीवन में अन्न की प्रमुखता दर्शाई गई है 'कारणे कार्योपचारोऽन्न-प्राणवत्'—त० रा० ६।२०।९। अन्यथा यदि प्रमाद और हिंसा में भेद न होता तो आचार्य प्रमाद की गणना हिंसा से पृथक्—परिग्रह में न कराते। मिथ्यात्व, कषाय, नोकषाय विकथा, इन्द्रिय, निद्रा आदि सभी परिग्रह के अन्तर्गत हैं जिनसे आत्म-अहित रूप

Ganesh Varni Digambar Jain Institute, Naria, Varanasi

CC0.In Public Domain. Digitized by Sarayu Trust/eGangotri

हिंसादि पापों की उत्पत्ति होती है। परिग्रह नाम मूर्छा[1] का है और बाह्य तथा आभ्यन्तर उपाधियों के संरक्षण, अर्जन संस्कार आदि व्यापार को मूर्छा कहा है—'.....उपाधीनां संस्कारादिलक्षणव्यापृतिमूर्छा इति।'—त० रा० वा० ७।१७।१ फलतः सभी पाप मूर्छाजन्य होते हैं।

अतः जैन संस्कृति में प्रथमतः मूर्च्छा—परिग्रह के त्याग को प्रमुखता दी गई है।

मूलतः तो परिग्रह की शृंखला बड़ी विस्तृत है और प्रकारान्तर से हिंसादि सभी पाप परिग्रह के अन्तर्भूत ही हैं फलतः परिग्रह से छुटकारा पाने में ही श्रेय है। सभी तीर्थंकरों और महापुरुषों ने परिग्रह से निवृत्ति पाने का मार्ग अपनाया—उन्होंने प्रथमतः परिग्रह-परिवार—मिथ्यात्व, कषाय, नोकषाय तथा विकथा, इन्द्रियविषय, निद्रा आदि सभी अन्तरंग परिग्रहों और बाह्य परिग्रह धन धान्यादि से निवृत्ति पाने का यत्न किया और इसीलिए वे अन्य पापों से बच सके।

परिग्रह-परिवार—

१. **मिथ्यात्व**—तत्वार्थों के अश्रद्धान को मिथ्यात्व कहते हैं।[2] जब तक तत्वरूप से निर्णीत पदार्थों पर श्रद्धान न होगा तब तक परिग्रह लगा ही रहेगा। और जब पदार्थों के स्वरूप का ठीक ठीक श्रद्धान होगा तब उन्हें जानकर स्वप्रवृति और पर से निवृत्ति का भाव होगा और तभी परिग्रह से छुटकारे का प्रयत्न कर सकेगा। स्थूलरीति से मिथ्यात्व पांच प्रकार हैं—विपरीत मिथ्यात्व, एकांत मिथ्यात्व, वैनयिक मिथ्यात्व, सांशयिक मिथ्यात्व और अज्ञान मिथ्थात्व।

(अ) **विपरीत**—ऐसा श्रद्धान करना कि हिंसा, झूठ, चोरी, कुशील, परिग्रह, राग, द्वेष, मोह अज्ञानादिक से ही मुक्ति होती है।[3]

(आ) **एकान्त**—ऐसा श्रद्धान करना कि पदार्थ एक रूप ही है। जैसे किसी पदार्थ को ऐसा मानना कि यह सर्वथा है ही अथवा ऐसा मानना कि सर्वथा नहीं ही है। पदार्थ एक रूप ही है। इसी प्रकार उसको सावयव-निरवयव, नित्य-अनित्य इत्यादिक रूपों में से किसी एक रूप में सर्वथा मान लेना विपरीत मिथ्यात्व

---

१. मूर्च्छा परिग्रहः।

२. तं मिच्छत्तं जमसद्दहणंतच्चाण होइ अत्थाणं।'—भ० आ० ५६

३. 'हिंसालियवयणचोज्ज-मेहुण परिग्गह राग-दोस-मोहण्णाणेहिं चेव णिव्वुई होइ त्ति अहिणवेसो विवरीय मिच्छत्तं।'—ध०पु० ८ पृ० २०

Ganesh Varni Digambar Jain Institute, Naria, Varanasi

CC0.In Public Domain. Digitized by Sarayu Trust/eGangotri

है।[४] जब कि जैनदर्शन के अनुसार पदार्थ को अनेकान्तरूप (एकही समय में—सदाकाल अनेक धर्मों वाला) सिद्ध किया गया है।

(क) **वैनयिक**—सच्चे-झूंठे सभी प्रकार के देवों, सभी प्रकार के शास्त्रों और सभी प्रकार के साधुओं में, उनके खरे-खोटे की पहचान न करके उनकी समानरूप में विनय-सेवा आदि करना वैनयिक मिथ्यात्व है।[५]

(ख) **साँशयिक**—सर्वज्ञ-वीतरागदेव ने तत्त्वों का जिस रूप में वर्णन किया है या जो तथ्य बतलाए हैं वे सही हैं या नहीं? ऐसा विकल्प बनाए रहना और उनके कथन की सत्यता पर निर्भर न रहकर ढुलमुल श्रद्धान रखना।[६]

(ग) **अज्ञान**—विचार करने पर ऐसा प्रतीत होता हैं कि जीवाजीवादि पदार्थ नहीं हैं, वे नित्याऽनित्य नहीं हैं, संसार व मोक्ष नहीं हैं ऐसी धारणा रखना, अज्ञान मिथ्यात्व हैं।[७]

२. **कषाय**[८]—जो भाव आत्मा को कर्म-बन्धन में कसें वे कषाय कहलाते हैं। जीव अपने भावों के अनुरूप ही अपने को तीव्र-मन्द कर्म-बन्धन में बांधता है। ये कषाय मूलतः सोलह श्रेणियों में विभक्त हैं और विस्तार से इनके २५ व संख्यात-असंख्यात तक भेद हैं।

---

४. 'अत्थि चेव णत्थि चेव, एगमेव अणेगमेव, सावयवं चेव णिरवयवं चेव णिच्चमेव अणिच्चमेव, इच्चाइओ एयंताहिणिवेसो एयंतमिच्छत्तं।'
धव० पु०, ८ पृ० २०

५. 'सर्वेषामपि देवानां समयानां तथैव च।
यत्र स्यात्समदर्शित्वं ज्ञेयं वैनयिकं हि तत्॥—त० सा० ५-८

६. 'सर्वज्ञेन विरागेण जीवाजीवादि भासितं।
तथ्यं न वेति संकल्पो दृष्टि सांशयिकी मता॥'—अमित श्रा० २।७

७. विचारिज्जमाणे जीवाजीवादि पयत्था ण सन्ति णिच्चाणिच्च वियप्पेहिं, तदो सव्वमण्णाणमेव, णाणं णत्थित्ति अहिणिवेसो अप्पाणमिच्छत्तं।'
धव० पु० ८ पृ० २०

८. कषन्त्यात्मानमेवात्रकषायादिति दर्शिताः।
पंचविंशति संख्याका मोहकर्मोदयोद्भवः॥—जम्बू० च० १३।१०८

Ganesh Varni Digambar Jain Institute, Naria, Varanasi

CC0.In Public Domain. Digitized by Sarayu Trust/eGangotri

(अ) **अनन्तानुबन्धी**—अनन्त संसार की स्थिति को बन्धाने वाले क्रोध[९], मान[१०], माया[११], लोभ[१२]। शास्त्रों में इनको क्रमशः पत्थर की रेखा के समान, पत्थर के समान, बांस की जड़ के समान और कृमि राग के समान (उदाहरणपूर्वक) बतलाया है।

(आ) **अप्रत्याख्यानावरण**—जिनके उदय में व्रत का अभाव हो। ऐसे क्रोध, मान, माया, लोभ। शास्त्रों में इनको क्रमशः पृथ्वी की रेखा, हड्डी, मेढ़ा के सींग और चक्रमल (ओंगन) के समान बतलाया है।

(क) **प्रत्याख्यानावरण**—जिनके उदय में सकलचारित्र न हो सके ऐसे क्रोध, मान, माया, लोभ। शास्त्रों में इनको क्रमशः धूलिरेखा, काठ की लकीर, गोमूत्र और शरीरमल के समान कहा है।

(ख) **संज्वलन**—परीषहादि उपस्थित होने पर भी जो चारित्र को नष्ट नहीं करते ऐसे क्रोध, मान, माया, लोभ। शास्त्रों में इनको क्रमशः जलरेखा, बेंत, खुरपा और हल्दी के रंग के समान बतलाया है। इनके सिवाय हास्य, रति (विषयादिक में उत्सुकता) अरति, शोक, भय, जुगुप्सा (धर्म और धर्मात्माओं के प्रति ग्लानि) स्त्रीवेद, पुंवेद और नपुंसकवेद भी पापों की जड़ हैं। विकथायें (संयम के विरुद्ध वाक्य) जो स्थूलरीति से स्त्रीकथा, भोजनकथा, राष्ट्रकथा और अवनिपालकथा रूप में वर्णित हैं वे सब परिग्रह में गर्भित हैं। स्पर्शन, रसना, घ्राण, चक्षु और कर्ण के विषयों में उत्सुकता रखना अथवा प्रतिकूल विषयों में द्वेष करना भी परिग्रह है। और धनधान्यादि बाह्य सामग्री का संग्रह बाह्य परिग्रह है।

---

९. स्व-परोपघात-निरनुग्रहाहितक्रौर्य परिणामोऽमर्षः क्रोधः।
—त० वा० ८।९।५

१०. 'विज्ञानैश्वर्यजातिकुलतपोविद्याजनितो जीवपरिणाम औद्धत्यात्मको मानः। ध० पु० १२, पृ० २८३

११. परातिसन्धानतयोपहित कौटिल्यप्रायः प्रणिधिर्माया। त० वा० ८।९।५

१२. वज्झत्थेसु ममेदं भावो लोभो। ध० पु० १२।२८४
द्रव्याद्यभिकांक्षावेशो लोभः। त० वा० ८।९।५

Ganesh Varni Digambar Jain Institute, Naria, Varanasi

CC0.In Public Domain. Digitized by Sarayu Trust/eGangotri

इस प्रकार ऊपर गिनाये परिग्रह रूप कारणों में से किसी के भी उपस्थित होने पर प्राणी पापों में प्रवृत्त होता है। अतः जैन-संस्कृति में अपरिग्रह की प्रमुखता है। अन्य व्रतों का आधार भी यही है—ऐसा समझना चाहिए।

एक बात महत्त्व की ओर है। वह यह कि हिंसा, झूठ चोरी और कुशील ये चारों पाप ऐसे हैं जिन्हें करते हुए भी जीवों को गर्व के साथ अहिंसक सत्यवादी, अचौर और ब्रह्मचारी घोषित करने की छूट है, पर परिग्रह पाप में किंचित् रहते हुए भी कोई अपने को अपरिग्रही घोषित नहीं कर सकता। वहाँ परिमाण शब्द ही जोड़ना पड़ता है। तथाहि—

१. आरम्भी, उद्योगी और विरोधी हिंसा करते हुए भी श्रावक 'अहिंसाणुव्रती' कहलाता है।

२. किसी पात्र को घोर-दण्ड से बचाने हेतु अतथ्यभाषी श्रावक भी सत्याणुव्रती कहलाता है।

३. एक देश चोरी का त्याग करने वाला अचौर्याणुव्रती कहलाता है।

४. स्वीकृत पत्नी में अब्रह्म-पाप करते हुए को ब्रह्मचर्याणुव्रती (ब्रह्मचारी कहा जाता है। परन्तु—

५. प्रचुर परिग्रह को छोड़ते हुए भी तिल-तुष मात्र भी रखने वाला श्रावक अपरिग्रहाणुव्रती नहीं कहलाता है। ऐसा क्यों ?

वस्तुतः विचारा जाय तो ऐसी व्यवस्थायें तत्त्वदृष्टि (सच्चाई) पर आधारित न होकर समाज की अपनी व्यवस्था-पूर्तियों को ध्यान में रखकर ही बनाई गई हैं। उदाहरणतः—

जैसे 'मैथुनमब्रह्म'—मिथुन (स्त्री पुरुष) के भाव व कर्म को मैथुन कहा गया है; फिर वह चाहे स्वीकृत में हो या अस्वीकृत में; सभी जगह मैथुन (अब्रह्म) है। एक पुरुष जिस कन्या को किसी निश्चित पुरुष को देकर उसे शीलवती सम्बोधन से युक्त करता है क्या वह वस्तुतः 'मैथुनमब्रह्म' की परिधि से बाहर होती है ? कदापि नहीं। वह तो किसी अपनी व्यावहारिक व्यवस्थाओं के लिए वैसी मान ली जाती है। लोग जानबूझकर मैथुन के साधन जुटाते हैं उसे गा-बजाकर 'ब्रह्म' का नाम देते हैं—यह सामाजिक व्यवस्था मात्र है—वास्तविक लाक्षणिक धर्म नहीं है। पर; जैसे यह सब हो जाता है वैसे परिग्रह के साथ ऐसा घटित नहीं होता। लोग तिल-तुष मात्र परिग्रही (व्यक्ति) को गा-बजाकर या और कैसे भी 'अपरिग्रही' घोषित करने की हिम्मत नहीं कर पाते। इसमें मूलकारण परिग्रह की बलवत्ता ही है—जिसे क्षीण करने के लिए अरहन्तों ने इसके निवारण का मार्ग प्रशस्त किया और जो मूल-रूप में 'जैन-

Ganesh Varni Digambar Jain Institute, Naria, Varanasi

CC0.In Public Domain. Digitized by Sarayu Trust. Gangotri

संस्कृति' कहलाया। सिद्ध है कि अहिंसादिक धर्म हैं और उनके मूल में अपरिग्रह' रूपी मूल संस्कृति है—जैसे मूल के अभाव में शाखाओं की सम्भावना नहीं वैसे ही परिग्रह के अभाव में हिंसादिक शाखाओं की सम्भावना नहीं। फलतः हमें अपरिग्रह को मूल-संस्कृति मानकर चलना चाहिए।

हिंसा के लक्षण में आचार्यों ने दो अनिवार्यताओं का उल्लेख किया है और वे अनिवार्यतायें हैं—प्रमत्तयोग और प्राण-व्यपरोपण। इससे ऐसा स्पष्ट होता है कि जहां प्रमाद का योग है और प्राणों का व्यपरोपण है वहां हिंसा है। आचार्यों ने एक बात यह भी खुलासा की है कि यदि प्रमाद का योग है और दूसरे के प्राणों का वियोग नहीं भी है तो वहां भी हिंसा है क्योंकि उनके मत में प्राणों में द्रव्य और भाव दोनों प्रकार के प्राणों के साथ स्व और पर दोनों के प्राणों का ग्रहण भी निहित है। फलतः जहां पर के प्राणों का घात नहीं होता वहां भी प्रमाद स्व-प्राणों का घात तो करता ही है। उक्त प्रसंग पर यदि गहराई से मनन करें तो ऐसा मानने में कोई हानि नहीं होनी चाहिए कि—परस्पर में विरोध रूप हिंसा और अहिंसा दोनों का अस्तित्व प्राणों के अस्तित्व तक, उनके हनन और रक्षण के विकल्पों तक सीमित है—निर्विकल्प अवस्था में नहीं जबकि वीतरागता – अपरिग्रहत्व आत्मा में सदाकाल रहने वाला उसका स्वभाव है।

प्रवचन सार में उपयोग के भेदों का वर्णन है और कहा गया है—'अथायमुपयोगो द्वेधा विशिष्यते शुद्धाशुद्धत्वेन। तत्र शुद्धो निरुपरागः अशुद्ध सोपरागः। स तु विशुद्धि संक्लेश रूपत्वेन द्वैविध्यादुपरागस्य द्विविधः शुभोऽशुभश्च। 'स्तभूतग्रामानुकम्पाचरणे च प्रवृत्ते शुभ उपयोगः।—प्र०व०टी० ६३, ६५।

शुद्ध और अशुद्ध के भेद से उपयोग दो प्रकार का है शुद्धोपयोग रागरहित और अशुद्धोपयोग राग सहित होता है। अशुद्धोपयोग शुभ और अशुभ के भेद से दो प्रकार का होता है। समस्त जीवसमूह में अनुकम्पा रूप आचरण में प्रवृत्त उपयोग शुभ कहलाता है। जैसा कि अहिंसा में होता है फिर—हिंसा और अहिंसा दो विरोधी धर्म हैं जो विरोधी के अभाव में असम्भव हैं। फलतः जहां तक विकल्पावस्था है वहां तक हिंसा व अहिंसा का व्यपदेश सम्भव है—विकल्पातीत शुद्ध आत्मरूप तो केवल वीतरागता—अपरिग्रहत्व ही है।

लोक में आज भी जिसे अहिंसा माना जा रहा है वह जीवेषु साणुकम्पो उवओगो सो सुहो तस्स।' प्रव० १५७ ही है।

Ganesh Varni Digambar Jain Institute, Naria, Varanasi

CC0.In Public Domain. Digitized by Sarayu Trust/eGangotri

यदि हम अहिंसा को और ऊँचे तक ले जाना चाहें तो उसे हम अपरिग्रह में आत्मसात् करने के सिवाय पृथक रूप में नहीं देख सकते—वह अप्रमाद या वीतरागता में ही लीन होगी। अतः—हमें मूल जैन-संस्कृति 'अपरिग्रहत्व' है और अहिंसादि धर्म इसी पर आधारित हैं, ऐसा मानने में किंचित् भी आपत्ति नहीं होनी चाहिए।

परिग्रह औद कर्म : पर्यायवाची

जैन-संस्कृति के मूल में निवृति का विधान और प्रवृत्ति का निषेध हे। निषेध इसलिए कि प्रवृतिमें समन्ततः शुभ या अशुभ कर्मों का ग्रहण होता है और कर्मो का ग्रहण संसार है। जबकि निवृत्ति मोक्ष साधिका है। यदि गहराई से विचारा जाए तो प्रवृत्ति स्वयं भी परिग्रह है और परिग्रह में कारणभूत भी है। इसीलिए तत्वार्थसूत्र के षष्ठम अध्याय के प्रथम सूत्र में 'कायवाङ् मनः कर्म योगः' जैसी प्रवृति (क्रिया) को अगले सूत्र 'सः आस्रवः' से आस्रव बतला दिया; जो कि संसार का कारण है। यदि प्रवृति शुद्धता में कारण होती तो प्रवृति-परक प्रथम सूत्र को आस्रव में गर्भित न कर, अगले संवर या निर्जरापरक प्रसंगों में दर्शाया गया होता। इस प्रसंग में हमें परिग्रह की परिभाषा पर भी दृष्टिपात कर लेना चाहिए—

शास्त्रों में परिग्रह शब्द की दो व्युत्पत्तियां देखने में आती हैं।

(१) 'परिगृह्यते इति परिग्रहः बाह्यार्थः क्षेत्रादि।'

(२) 'परिगृह्यते अनेनेति च परिग्रहः बाह्यार्थग्रहणहेतुरात्मपरिणामः।

—धवला १२/४/२ ८६ पृ० २८२

अर्थात् जो ग्रहण किया जाय वह परिग्रह है जैसे बाह्यपदार्थ क्षेत्रादि। और जिसके द्वारा ग्रहण किया जाय वह परिग्रह है, जैसे आत्मा के रागादिरूप वैभाविक परिणाम।

उक्त दोनों व्युत्पत्तियों में द्वितीय व्युत्पत्ति से फलित अर्थ आचार्यों को अधिक ग्राह्य रहा है, अपेक्षाकृत प्रथम व्युत्पत्ति-फलित अर्थ के। इसीलिए उन्होंने परिग्रह के लक्षण में मूर्छा (ममेदं-रागद्वेषादि रूप परिणामों) को प्रधानता दी है। क्योंकि रागादि-प्रवृत्ति ही बाह्य आदान-प्रदान में कारण है और यही प्रवृत्ति कर्मास्रव और बन्ध में भी प्रमुख कारण है। आचार्य का भाव ऐसा भी रहा है कि भव्यजीव प्रवृत्ति को छोड़ें और निवृत्ति की ओर बढ़ें। इसी प्रसंग में तनिक हम व्रतों की परिभाषाएं भी देख लें कि वहां आचार्यों ने

Ganesh Varni Digambar Jain Institute, Naria, Varanasi

CC0.In Public Domain. Digitized by Sarayu Trust/eGangotri

निवृत्ति का उपदेश दिया है या प्रवृत्ति का ? हमारी समझ से तो निवृत्ति का ही उपदेश है। तथाहि—

'हिंसाऽनृतस्तेयाऽब्रह्म परिग्रहेभ्यो विरतिर्व्रतम्' यह तत्त्वार्थसूत्र के सप्तम अध्याय का प्रथम सूत्र है। इसमें हिंसा आदि से विरक्त होने का निर्देश है। कदाचित किसी भांति भी कहीं भी प्रवृत्त होने का निर्देश नहीं है। वे कहते हैं—हिंसा से विरक्त होना, असत्य से विरक्त होंना, स्तेय से विरत होना अब्रह्म से और परिग्रह से विरत होना 'व्रत' है। वे यह तो कहते नहीं कि अहिंसा में रत होना, सत्य में रत होना आदि व्रत है। फलितार्थ यह है कि जब हिंसादि परिग्रह छूट जायेंगे तब अहिंसादि स्वयं फलित होंगे। यदि जीव उन फलीभूत अहिंसादि में प्रवृत्ति करता है—रति करता है तब भी उसको परिग्रह से छुटकारा नहीं मिलता। अन्तर मात्र इतना होता है कि जहां वह अशुभ में था वहां शुभ में हो गया। यदि जीव शुद्ध होना चाहता है तो अशुभ से विरत हो जाय और शुभ में भी प्रवृत्त न हो। आपसे आपमें ही ठहर जाय।

जहां प्रवृत्ति होती है वहां परिग्रह होता है--आस्रव होता है। व्रत नहीं होता। और जहां निवृत्ति होती है वहां परिग्रह का बोझ हल्का होता है और पूर्ण निवृत्ति में वह भी छूट जाता है। जो जीव जितने अंशों में रत होगा उतना ही परिग्रही होगा और जितने अंशों में विरत होगा उतने अंशों में अपरिग्रही होगा। कहा भी है—

'रत्तो बंधदि कम्मं मुंचदि जीवो विरागसंपत्तो।"

—समयसार १५०

फलतः जब कोई भव्यात्मा संसार से उदास होकर आत्म-कल्याण की ओर बढ़ना चाहे और गुरु के पादमूल में दीक्षा लेने जाय तो गुरु का कर्तव्य है कि वे उसे 'निवृत्ति' रूप व्रत का उपदेश दें—आस्रव व बंधकारक क्रियाओं से 'विरत' करें। उसे कुछ ग्रहण करने को न कहें। पर-परिपाटी ऐसी बन गई है कि 'आप व्रत ग्रहण कर लें, कहकर उसे व्रत दिए जाते हैं।' जबकि आगमानुसार व्रत का लक्षण 'विरत' होना है, अपरिग्रही होना है। रत होना नहीं। ये जो कहा जा रहा है कि—'अमुक ने महाव्रत या अणुव्रत ग्रहण किए' सो यह सब व्यवहार भाषा है, इसका तात्पर्य है कि वह उन पापों से विरक्त हुआ—उसकी उन पापों से रति छूटी। न कि वह पुण्य में रत हुआ।

ये बात हम नहीं कह रहे। आखिर, आचार्य देव ने निवृत्ति को स्वयं ही व्रत का लक्षण बताया है। तथाहि :

Ganesh Varni Digambar Jain Institute, Naria, Varanasi

CC0.In Public Domain. Digitized by Sarayu Trust/eGangotri

'हिंसाऽनृतस्तेयाब्रह्मपरिग्रेहभ्यो विरतिर्व्रतम् ।' —तत्त्वार्थ ७।१
'सर्वनिवृतिपरिणामः ।' पर. प्र. टी. २।५२।१७३।५
'समस्तशुभाशुभ रागादिविकल्पनिवृत्तिर्व्रतम् ।'
—द्र. सं. टी. ३५।१००।१३

'देशसर्वतोऽणुमहती ।'
देशश्च सर्वश्च ताभ्यां देशसर्वतः । विरतिरित्यनुवर्तते ।
हिंसादेर्देशतो विरतिरणुव्रतं, सर्वथाविरति महाव्रतम् ।
न हिनस्मि नानृतं वदामि नादत्तमाददे नांगनां स्पृशामि न परिग्रहमाद
दे' इति ।' —त. रा. वा. ७।२।२
ज्ञात्वा श्रद्धाय पापेभ्यो विरमणं व्रतम् ।' —भ. आ.
—बि. ४२१।६१४।११। पृ. ६३३ कोष

निरतःकार्तस्न्यनिवृतौभवतियतिः समयसारभूतोऽयं ।
या त्वेक देशविरतिर्निरतस्तस्यामुपासको भवति ॥' —पुरुषार्थ ४१
'अप्रादुर्भावः खलुरागादीनां भवत्यहिंसा ।' —पुरु. ४४
पाणवधमुसावादादत्तादाणपरदारगमणेहिं ।
अपरिमिदिच्छादोविय अणुव्वयाइं विरमणाई ॥'
—भ. आ. मूला. २०८०।१८९९ पेज ६३५

'हिंसाविरदी सच्चं अदत्त परिवज्जणं च बंभं च ।
संग विमुत्ती य तहा महव्वया पंचपण्णत्ता ॥ —भू. आ. ४

हिंसा, अनृत, स्तेय, अब्रह्म और परिग्रह से विरति सर्वनिवृत्त-परिणाम, समस्त शुभ-अशुभ रागादि विकल्पों से निवृत्ति, देश-विरति सर्व-विरति, पापों से विरमण, कृत्स्न (पूर्ण) निवृत्ति, एकदेशविरति, रागादि का अप्रादुर्भाव, प्राणवधादि से विराम, हिंसादि परिवर्जन अथवा उनसे विमुक्ति, आदि । उक्त सभी स्थलों में विरति की प्रधावना है । कहीं भी अहिंसादि में प्रवृत्ति का विधान नहीं है जैसा कि कहा जाता है—'मैंने या उसने अहिंसादि व्रतों को ग्रहण किया है या कर रहे हैं । ये सब जीवों के अनादि रक्त—रागी परिणामों का ही प्रभाव है जो हम छोड़ने की जगह ग्रहण करने के अभ्यासी बन रहे हैं—जब कि जिन या 'जैन' का धर्म विरक्ति (शुद्धता की ओर बढ़ने) का धर्म है । 'जिन' स्वयं भी सब छोड़े हुए हैं । देखें 'नियमसार'—

कुल जोणिजीवमग्गण-ठाणाइसु जाणऊणजीवाण ।
तस्सारंभणियत्तण—परिणामो होइ पढम बदं ॥५६॥

Ganesh Varni Digambar Jain Institute, Naria, Varanasi

CC0.In Public Domain. Digitized by Sarayu Trust/eGangotri

रागेण व दोसेण व मोहेण व मोसभासपरिणामं ।
जा पजहदि साहु सया विदियवयं होई तस्सेव ॥५७॥
गामे वा णयरे वा रण्णे वा पंछिऊण परमत्थं ।
जो मुंचदिग्रहण भावं तिदियवदं होदि तस्सेव ॥५८॥
दट्ठूण इच्छिरुवं वांछाभावं णिवत्तदे तासु ।
मेहुणसण्णविवज्जिय परिणामों अहव तुरीयवदं ॥५९॥
सव्वेसिं गंथाणं चागो निरवेक्खभावणा पुव्वं ।
पंचमवयमिदि भणिदं चारित्तभरं वहंतस्स ॥६०॥

—नियमसार

कुल, योनि, जीवसमास, मार्गणा आदि जीवों के ठिकानों को जानकर उनमें आरम्भ करने से हटना अहिंसाव्रत है ।

जो सज्जन पुरुष राग द्वेष व मोह से झूठ के परिणामों को जब छोड़ता है तब उसके सत्यव्रत होता है ।

दूसरे के द्वारा छोड़ी या दूसरे की वस्तु को (चाहे वह ग्राम नगर, वन आदि में कहीं भी पड़ी हो) उठाने के परिणाम को जो छोड़ता है उसके अचौर्य व्रत होता है ।

जो स्त्री के रूप को देखकर ही उसके भीतर अपनी इच्छा होने रूप परिणामों को हटाता है । उसके ब्रह्मचर्य व्रत होता है ।

जो वांछा रहित भावना के साथ सर्व ही परिग्रहों को त्यागता है उसके अपरिग्रह व्रत होता है ।

उक्त गाथाओं में आचार्य ने सभी जगह पाप छोड़ने को व्रत कहा है । जब कि वर्तमान में ग्रहण करने में व्रत शब्द का प्रयोग किया जाने लगा है 'जैसे अमुक व्रत ग्रहण कर लीजिए' आदि ।

'ग्रंथ' शब्द को भी परिग्रह के भाव में लिया जाता है : जिसमें ग्रंथ नहीं होता उसे निर्ग्रंथ' कहा जाता है । ग्रंथ शब्द की व्युत्पत्ति के विषय में लिखा है—'ग्रंथन्ति रचियन्ति दीर्घीकुर्वन्ति संसारमिति ग्रंथाः । मिथ्याज्ञानं, असंयम; कषायाः योगत्रयं चेत्यमी परिणामाः ।' भ. आ. वि.।४७।४१ २०

जो संसार को गूंथते हैं, अर्थात जो संसार की रचना करते हैं, जो संसार को दीर्घकाल तक रहते वाला करते हैं, उनको ग्रंथ कहना चाहिए । तथा मिथ्यादर्शन, मिथ्याज्ञान, असंयम, कषाय, मन-वचन-काययोग इन परिणामों को आचार्य ग्रंथ कहते हैं । इन ग्रन्थों का त्यागी निर्ग्रंथ कहलाता है

Ganesh Varni Digambar Jain Institute, Naria, Varanasi

CC0.In Public Domain. Digitized by Sarayu Trust/eGangotri

और वह अपरिग्रही नाम से भी पहिचाना जाता हैं। दोनों के ही परिग्रह-त्याग-रूप व्रत होता है—कुछ ग्रहण रूप नहीं। क्योंकि व्रत का लक्षण 'विरत' है न कि 'रत' होना।

यदि कोई जीव शुभ में भी रत होता है तो वह परिग्रह का वैसा पूर्ण त्यागी नहीं होता जैसे कि 'जिन' अर्हन्त भगवान।

तात्पर्य ऐसा कि जो पूर्णव्रती (विरत) होगा—वही अपरिग्रही या निर्ग्रन्थ होगा। इसके पूर्व यदि किसी को निर्ग्रन्थ कहा जायगा तो वह उपचार ही होगा। मुनियों के भेदों में 'पुलाकबकुशकुशील निर्ग्रन्थस्नातकानिर्ग्रन्थाः' में भी 'निर्ग्रन्थ' शब्द मुहूर्तादुद्भिद्यमानकेवलज्ञानदर्शनभाजो निर्ग्रन्थाः।' के अभिप्राय में है। अर्थात् जो अंतर्मुहूर्त में केवलज्ञान और केवल दर्शन को प्राप्त होते हैं। यानी जिनकी आत्म-घाती कर्म प्रकृतियां क्षय प्राप्त करने के सन्मुख होती हैं वे निर्ग्रन्थ या अपरिग्रही होते हैं।

उक्त भाव में, जहाँ कर्मों से राहित्य अर्थ है वहां हमें परिग्रह और अपरिग्रह शब्दों की व्युत्पत्ति पर भी विशदता से विचार करना चाहिए जिससे हम परिग्रह के सही भाव को फलित कर सके।

यदि आचार्य चाहते तो 'परिग्रह' शब्द को केवल 'ग्रह' शब्द से भी व्यक्त कर देते। क्योंकि इस शब्द की जो व्युत्पत्ति ऊपर के विवेचन में दी गई है और उससे जो अर्थ फलित किया गया है वह अर्थ केवल 'ग्रह' शब्द से भी फलित हो सकता था। जैसे—'गृह्यते इति ग्रहः—बाह्य पदार्थः'।' अथवा 'गृह्यते येन स ग्रहः—रागादिः।' पर आचार्य ने 'परि' उपसर्ग लगाकर अध्यात्म में कुछ और ही दर्शाना चाहा है—ऐसा मालूम पड़ता है। शायद वे चाहते हैं कि हम बाहरी पदार्थों की उठाधरी की चर्चा के विकल्पों में न पड़ें और आत्मा और उनमें लगी कर्मकालिमा को देखें—उसका और अपना भेद-विज्ञान करें तथा कर्मों से विरति लें, उनसे विरत हों, अपरिग्रही बनें।

कर्मग्रहण परिग्रह हैं और इसकी सिद्धि परिग्रह शब्द की व्युत्पत्ति से फलित होती है?

'तत्त्वार्थसूत्र' के आठवें अध्याय के २४वें सूत्र में प्रदेश बन्ध को बतलाते हुए आचार्य लिखते हैं कि 'सूक्ष्मैकक्षेत्रावगाहस्थिताः सर्वात्मप्रदेशेष्वनन्तानन्तप्रदेशाः'—इसकी व्याख्या में राजवार्तिककार लिखते हैं—'सर्वात्मप्रदेशेष्वितिवचनमेकप्रदेशाद्यपोहार्थम्'—एकद्वित्रिचतुरादिप्रदेशेष्वात्मनः कर्मप्रदेशा

Ganesh Varni Digambar Jain Institute, Naria, Varanasi

CC0.In Public Domain. Digitized by Sarayu Trust/eGangotri

न प्रवर्तन्ते, क्वतर्हि ? ऊर्ध्वंअधस्तिर्यक्षु सर्वेष्वात्मप्रदेशेषु व्याप्यस्थिता इति प्रदर्शनार्थम् सर्वात्मप्रदेशेष्वित्युच्यते ।'

इसका भाव है कि कर्म आत्मा के सर्व प्रदेशों में स्थित होते हैं और वे पूरी आत्मा के द्वारा सर्व ओर से आकर्षित किये जाते हैं। उदाहरणार्थ—जैसे अग्नि में तपा लोहे का सुर्ख गोला यदि पानी में डाला जाए तो वह पानी को सभी ओर से सम-रूप में आत्म-सात करता है, वैसे ही कषाय और योग की अग्नि से तप्त आत्मा कर्मरूप परिणत-कार्माण वर्गणाओं को सभी ओर से सम रूप में आत्मसात करता है। अध्यात्म में कर्म के सिवाय ऐसी अन्य कोई वस्तु नहीं है जिसे आत्मा चारों ओर से अपने में आत्मसात करे और जिससे चारों ओर से आत्मसात किया जाय – ग्रहण किया जाय। ऐसा यदि है तो वह कर्म ही परिग्रह है। तथाहि—

परि (समन्तात्) गृह्यते यः सः परिग्रहः-द्रव्य-कर्म।
परि (समन्तात्) गृह्यते येन सः परिग्रहः—भाव-कर्म॥

उक्त भाव में अपरिग्रह और व्रत के अर्थ भी विचारिए और निर्ग्रन्थ पर भी ध्यान दीजिए।

जैन की पहिचान : अपरिग्रह

'परस्परव्यतिकरे सति येनाऽन्यत्वं लक्ष्यते तल्लक्षणम्—'परस्पर में मिले हुए अनेकों में जो हेतु किसी एक की स्वतन्त्ररूपता को लक्षित कराता है वह उस जुदे पदार्थ का लक्षण होता है। जैसे अग्नि का लक्षण उष्णता अग्नि को पानी से जुदा बताने में हेतु है। संसार में जैन, बौद्ध, वैष्णव, शैव, मुस्लिम, सिख आदि अनेकों मत-मतान्तर प्रचलित हैं उन सबकी पृथक्-पृथक् पहिचान कराने के उनके अपने-अपने लक्षण निश्चित हैं, जिनसे उनकी पृथक् पहिचान होती है। यह बात निर्विरोध है कि जैनों की पहिचान कराने में 'अपरिग्रह' मुख्य हेतु है। यह हेतु जैनों का अन्यों से व्यवच्छेद कराता है—जैनों की पृथक् पहिचान कराता है। साधारणतया अपरिग्रह के सिवाय अन्य शेष धर्मों—अहिंसादि में वह शक्ति नहीं जो वे जैनों का अन्य मतान्तरों से सर्वथा व्यवच्छेद कराने में समर्थ सकें। यतः अपरिग्रह के सिवाय अन्य अहिंसादि शेष धर्म अन्य सभी साधारण मत मतान्तरों में हीनाधिक रूपों में पाए जाते हैं। अतः जैनों में उनका अस्तित्व तात्त्विक पहिचान के रूप में विशेष महत्व नहीं रखता और ना ही

Ganesh Varni Digambar Jain Institute, Naria, Varanasi

CC0.In Public Domain. Digitized by Sarayu Trust/eGangotri

उनमें से कोई धर्म औरों से जैनों की अलग पहिचान कराने में समर्थ ही है। तथा जैनों की हर क्रिया में पूर्ण अपरिग्रहत्व की भावना निहित है। यहां तक कि जैन का अस्तित्व भी अपरिग्रह पर आधारित है। यतः—

'जैन' शब्द के निष्पन्न होने में 'जिन' की मुख्यता है। जो 'जिन' का है वह 'जैन' है। यहां जीतने से तात्पर्य मोह, राग-द्वेषादि पर-वैभाविक भाव अर्थात् कर्मों के जीतने से है। क्योंकि ये मोहादि पर-भाव स्वयं भी परिग्रह हैं और परिग्रह के मूल भी हैं।

हमने श्रावक व मुनियों की दैनिकचर्या को पढ़ा है और उनके प्रारम्भिक कृत्यों को देखा है। नित्य-नियम सामायिक आदि के लक्षणों में भी अपरिग्रह-भावना की कारणता विद्यमान है अर्थात् जब तक रागादि-परिग्रह के प्रति उदासीन भाव नहीं होगा तब तक सामायिक न हो सकेगी। जहां पर— परिग्रह से निवृत्ति और स्व यानी अपरिग्रहत्वरूप निर्विकार स्व-परिणाम में ठहराव है वहीं सामायिक है और वह ही आत्मा की शुद्धि में कारण है। जब तक जीव की पर-प्रवृति बनी रहेगी, चाहे वह प्रवृत्ति अहिंसादि में ही क्यों न हो? वह बन्ध का ही कारण होगी। क्योंकि अहिंसादि धर्म पर-अपेक्षाकृत हैं, पर के आसरे से हैं। स्व-परिणाम 'अपरिग्रह' रूप होने से बन्ध का कारण नहीं। अहिंसादिक सामाजिक धर्म हैं और अपरिग्रह आत्मिक धर्म है जिसका 'जिन' और जैन से तादात्म्य सम्बन्ध है।

युग के आदि प्रवर्तक तीर्थंकर ऋषभदेव से लेकर भ० महावीर तक चौबीस तीर्थंकर और अरहन्त अवस्था व मुक्ति को प्राप्त असंख्य सिद्ध अपरिग्रही होने से ही पूर्णता को पा सके। एक भी दृष्टान्त ऐसा नहीं है जिससे परिग्रही का मुक्त होना सिद्ध हो सके।

जैनों में जो दिगम्बर, श्वेताम्बर जैसे दो भेद पड़े हैं वे परिग्रह और अपरिग्रह के कारण ही पड़े हैं। ऐसा मालूम होता है कि जिन्होंने अपरिग्रह पर समन्ततः और सूक्ष्म दृष्टि रखी वे दिगम्बर और जिन्होंने अपरिग्रह पर स्थूल, एकांगी बाह्य-दृष्टि रखी वे श्वेताम्बर हो गए। स्मरण रहे जहां दिगम्बर अन्तरंग-बहिरंग सभी प्रकार के परिग्रह त्याग पर सूक्ष्म रूप में जोर देते हैं, वहां श्वेताम्बर बाह्य-परिग्रह को गौण कर केवल अन्तरंग परिग्रह को मुख्यता देते हैं और इसीलिए उनमें स्त्री और सवस्त्र मुक्ति को मान्यता दी गई है। यदि इन भेदों के होने में अहिंसादि को लेकर मत-भेद की बात होती तो उसका

Ganesh Varni Digambar Jain Institute, Naria, Varanasi

CC0.In Public Domain. Digitized by Sarayu Trust/eGangotri

कहीं तो कैसे भी उल्लेख होता—जैसा कि नहीं है। दोनों में ही अहिंसादि चार धर्मों के लक्षणों और उनके रूपों की मान्यता में एकरूपता है। यदि भेद है तो परिग्रह और अपरिग्रह के लक्षणों को लेकर ही है।

दोनों संप्रदायों में दो श्लोक बड़े प्रसिद्ध हैं। उनमें दिगम्बर-सम्प्रदाय में शास्त्र वाचन के प्रारम्भ में पढ़ा जाने वाला मंगलश्लोक पूर्ण-अपरिग्रही होने के रूप में नग्न दिगम्बराचार्य श्री कुन्दकुन्दाचार्य को नमस्कार करता है जब कि श्वेताम्बरों में इस श्लोक का रूप सवस्त्र (दिगम्बरों की दृष्टि में परिग्रही) आचार्य स्थूलभद्र को नमस्कार रूप में है। तथाहि—

दिगम्बरों में :—

मंगलं भगवान वीरो मंगलं गौतमोगणी।
मंगलं कुन्दकुन्दार्यो जैनधर्मोऽस्तु मंगलम्॥

श्वेताम्बरों में :—

मंगलं भगवान वीरो मंगलं गौतमोप्रभुः।
मंगलं स्थूलभद्रार्यो जैन धर्मोऽस्तु मंगलम्॥

उक्त श्लोकों से यह भी ध्वनित होता है कि महावीर और गौतमगणधर के पर्याप्त समय बाद तक अभेद रहा और बाद में अपरिग्रह, परिग्रह के आधार पर नग्न और सवस्त्र साधु के भिन्न-भिन्न नामों से श्लोक प्रचलित किया गया, जो कुन्दकुन्द और स्थूलभद्र के रूप में हमारे सामने है। श्लोकों में महावीर और गौतम के नाम यथावत एक रूप हैं। इसी के आधार पर दिगम्बर कभी सवस्त्र को निर्ग्रन्थ-गुरु के रूप में नमस्कार नहीं करते। और वैसा मंगलाचरण भी नहीं करते अब जैसा कोई-कोई करने लगे हैं जो ठीक नहीं है।

अपरिग्रह धर्म अध्यात्मरूप भी है जो आत्मा के परभिन्न—नग्न—शुद्धस्वरूप को दर्शाता है। इसी अपरिग्रही रूप की प्राप्ति के लिए जिन शासन में प्रतिक्रमण, प्रत्याख्यान और सामायिक के विधान हैं। प्रतिक्रमण का अर्थ होता है—आत्मा के प्रति आना। प्रत्याख्यान का अर्थ होता है—पुनः 'पर' में न जाना और सामायिक का अर्थ होता है—अपने में स्थिर होना। यह जो कहा जा रहा है कि अशुभ से हटकर शुभ में आना आदि, सो सब व्यवहार ही है।

(१) **प्रतिक्रमण** : परिग्रह से आवृत प्राणी पुनः-पुनः परिग्रह—राग-द्वेषादिक रूप पर-भावों में दौड़ता है अर्थात् वह स्व से बेखबर हो जाता है

Ganesh Varni Digambar Jain Institute, Naria, Varanasi

CC0.In Public Domain. Digitized by Sarayu Trust/eGangotri

और पुण्य-पापरूप या संसारवर्द्धक पर पदार्थों में वृत्ति को ले जाता है। ऐसे जीव को उन परिग्रह—कर्मबन्धकारक क्रियाओं से सर्वथा हटकर पुनः अपने शुद्ध अपरिग्रही आत्मा में आने के लिए प्रतिक्रमण का विधान किया गया है। इसमें पर-प्रवृत्ति का सर्वथा निषेध और स्व-प्रवृत्ति (जो शुद्ध यानी अपरिग्रह रूप है) में आने का विधान है।

(२) **प्रत्याख्यान** : जो जीव पर से स्व में आ गया, वह पुनः पर में न जाने को कटिबद्ध हो, यानी पुनः परिग्रहरूप—कर्मबन्धकारक क्रियाओं में न जाने में सावधान हो? इससे उसका आगामी संसार—परिग्रह यानी कर्म-बन्धरूप संसार रुकेगा।

(३) **सामायिक** : प्रतिक्रमण और प्रत्याख्यान में सन्नद्धजीव सम—समता भाव में स्थिर होने में समर्थ हो सकेगा। क्योंकि समता का शुद्ध-आत्मा से अटूट सम्बन्ध है। समता का भाव है—किसी अन्य के प्रति शुभ या अशुभ-रूप पर भावों का सर्वथा त्याग। क्योंकि शुभ और अशुभ भाव चाहे वे विभिन्न जीवों में एक जैसे ही क्यों न हों बन्ध कारक होंगे, जब कि सच्ची सामायिक में आस्रव व बन्ध दोनों का सर्वथा अभाव यानी आत्मा के अपरिग्रही होने का पूर्ण उद्देश्य है। इसी सामायिक से ध्यान और कर्मक्षय को बल मिलता है। इस प्रकार जैन की सभी प्रवृत्तियां अपरिग्रहत्व की ओर मुड़ी हुई हैं जब कि अहिंसादि अन्य धर्मों में पर का अवलम्ब अपेक्षित है। ध्यान के विषय में भी कुछ लिखना है। ध्यान की प्रक्रिया आज जोरों से प्रचारित है और उसमें पर-प्रवृत्ति ही विशेष लक्ष्य बनी हुई है।

अपरिग्रह और उत्कृष्ट ध्यान

अपरिग्रहत्व से तात्पर्य है—मात्र "स्व" और ऐसे 'स्व' से जिसमें पर—परिग्रह का विकल्प ही न हो। अरहन्त—तीर्थङ्कर अपरिग्रही—पूर्ण दिगम्बर हैं 'स्व' में विराजमान और 'स्व' रूप में स्थित भी। ज्ञान रूप आत्मा के सिवाय उनका स्व-तत्व अन्य कुछ नहीं—वे ज्ञाता दृष्टा कहलाते हैं सो भी परकीय दृष्टि से ही। क्योंकि उनमें पर की कल्पना को अवकाश हीं नहीं होता। जो पदार्थ उनके ज्ञान में प्रतिबिम्बित होते हैं वे भी अपनी, पदार्थ की सत्ता मात्र से ही प्रतिबिम्बत होते हैं; केवली के ज्ञान से उन पदार्थों की सत्ता का तादात्म्य नहीं; मात्र ज्ञेय-ज्ञायक भाव है और वह भी व्यवहारी है।

Ganesh Varni Digambar Jain Institute, Naria, Varanasi

CC0.In Public Domain. Digitized by Sarayu Trust/eGangotri

क्योंकि स्व वस्तु किसी विकल्प या कथन की चीज नहीं, मात्र अनुभव की चीज है—सर्वथा अनुभव की। आश्चर्य है कि उक्त वस्तु-स्थिति में भी हम स्वत्व—दिगम्बरत्व–अपरिग्रहत्व के अर्थ से अजान हैं और दिगम्बरत्व या अपरिग्रहत्व को मात्र बाह्य-शरीरादि के आधार पर पहिचानने में लगे हुए हैं; मात्र निर्वस्त्र को दिगम्बर मान रहे हैं और उसे अपरिग्रही कह रहे हैं। खैर, कोई हर्ज नहीं; हम निर्वस्त्र को अपरिग्रही या दिगम्बर मानते रहें पर, वस्त्र का भाव अवश्य हृदयंगम करें : वस्त्र (वेष्टन) आवरण का द्योतक है जो असलियत को आच्छादित करता है; उसे प्रकट नहीं होने देता। उक्त भाव में स्व-रूप से भिन्न सभी दशाएँ वस्त्र से आच्छादित जैसी हैं; सवस्त्र रूपं ही है। इसी आच्छादन करने वाले सत्त्व को जेन-दर्शन में परिग्रह नाम से सम्बोधित किया गया है और इससे मुक्त रहने का पाठ दिया गया है। इस दर्शन में अपरिग्रही को पूज्य माना है क्योंकि वह ही निर्दोष है और वह ही स्व-स्वभावी सर्वज्ञ दशा में स्थित होने में समर्थ है। कहा भी है...'यस्तु न निर्दोषः स न सर्वज्ञः। आवरण रागादयोदोषास्तेभ्यो निष्क्रान्तत्वं हि निर्दोषत्वम्।'...जो निर्दोष नहीं है वह सर्वज्ञ नहीं है और रागादि अन्तरंग व धनादि बहिरंग आवरणों—परिग्रहों से रहित होना ही निर्दोषपना है। और जैनागम में शुद्धात्मा को ही निर्दोष कहा है—'स त्वमेवासि निर्दोषो युक्ति शास्त्राविरोधि वाक्।' इसी निर्दोषता को लक्ष्य कर १८ दोषों को भी स्थूल रूप में दर्शाया गया है—

'छुहतण्हभीरुरोसो रागो मोहो चिंता जरा रुजा मिच्चू।
स्वेदं खेदं मदो रइ विम्हियणिद्दा जणु ब्वेगो॥
—नियमसार ६।

जम्बूदीवपण्णत्ति और द्रव्यसंग्रह टीका आदि में भी इन दोषों का खुलासा है और ये सभी दोष स्व-स्वभाव न होने से पर—परिग्रह हैं—जिनसे आत्मा की अनन्त शक्ति आच्छादित होती है।

हम यहां जैन मान्य उस अपरिग्रह की बात कर रहे हैं जिसमें जैनत्व व्याप्त होकर निवास करता है और जिससे जीवित रहता है। परिग्रह की बढ़वारी करते जैनी बने रहने का प्रयत्न करना मुर्दे में हवा देकर उसे जीवित मानने जैसा है। मृत-शरीर वायु से फूल सकता है, हिल भी सकता है। पर वह हिलना उसका जीवित होना नहीं होता; मात्र पौद्गलिक क्रिया होती है। ऐसे ही परिग्रह की बढ़वारी के प्रति जागृत जीव की बाह्य—पर क्रियाएँ

Ganesh Varni Digambar Jain Institute, Naria, Varanasi

CC0.In Public Domain. Digitized by Sarayu Trust/eGangotri

भी जैनत्व की साधिका नहीं। क्योंकि सारा का सारा जैनत्व परिग्रह की हीनता में समाहित है, फिर चाहे वह परिग्रह हीनता अहिंसा में आती हो, सत्य या अचौर्य आदि में आती हो। यदि अहिंसादि के मूल में अपरिग्रह की भावना नहीं तो सब व्यर्थ है। और यहां अपरिग्रहत्व से तात्पर्य राग-द्वेषादि कषायों के कृश करने से और बाह्य-संग्रह की मर्यादा और त्याग आदि से हैं। स्मरण रखना चाहिए कि सब व्रत-क्रियाएँ आदि भी तभी सार्थक हैं जब वे अपरिग्रह की भावना और अपरिग्रही-क्रियाओं से अपरिग्रह की पुष्टि के लिए हों।

हमारी भूल रही है कि हम अन्य व्रत आदि की क्रियाओं को (वह भी दिखावा रूप में) जैनत्व का रूप देने में आसक्त रहे हैं और अपरिग्रह की आसक्ति से नाता तोड़े हुए हैं। आज देश का जन-जन दुखी है वह भी परिग्रह की ज्यादती या लौकिक अनिवार्य पूर्तियों के अभाव में दुखी हैं। हिंसादि सभी प्रवृत्तियां भी परिग्रह से तथा परिग्रह की बढ़वारी के लिए ही की जा रही हैं। आश्चर्य है कि सरकार ने भी परिग्रह की बढ़वारी को किन्हीं अपराधों की परिधियों में नहीं बांधा। भारतीय दण्डसंहिता में हिंसा, झूठ, चोरी और कुशील के लिए जैसे दंड निर्धारित हैं, वैसे परिग्रह की बढ़वारी की रोक के लिए शायद ही कोई धारा हो। यदि सरकार ने जैन मूल-संस्कृति अपरिग्रहत्व से नाता जोड़ा होता—ऐसी कोई धारा निर्धारित की होती जो परिग्रह परिमाण पर बल देती होती—अति-परिग्रहियों के लिए दण्ड विधान करती होती तो देश को त्रास से काफी हद तक छुटकारा मिला होता। तब न हर कोई हर किसी के भाग पर कब्जा करता होता और न ही टैक्सों की चोरी आदि जैसी बाढ़ें ही आई होतीं। व्यक्ति की संचय सीमा निश्चित होती और परिवार भी तदनुसार निर्धारित-परिमाण में संग्रह कर पाते। इससे एक घर संपदा से अनाप-शनाप भरा और दूसरा सम्पदा से सर्वथा खाली न होता। जैसा कि वर्तमान में चल रहा है और जो जनसाधारण को परेशानी का कारण बन रहा है। अस्तु।

यहाँ हम यह कहना भी उचित समझते हैं कि जिस ध्यान को तत्त्वार्थ सूत्र के नवम अध्याय के २७वें सूत्र द्वारा दर्शाया गया है वह ध्यान भी अपरिग्रह मूलक और संवरनिर्जरा का साधक ही है। दूसरे रूप में यह भी कह सकते हैं कि—अपरिग्रहत्व और वह ध्यान समकाल भावी और एक है। वैसा ध्यान तभी होगा जब अपरिग्रहत्व होगा—बिना अपरिग्रहत्व के ध्यान कैसा? प्रसंग

Ganesh Varni Digambar Jain Institute, Naria, Varanasi

CC0.In Public Domain. Digitized by Sarayu Trust/eGangotri

गत ध्यान के लक्षण में 'अपने में रह जाना' ध्यान है और वही पूर्ण अपरिग्रहत्व है; जैसा कि ध्यान में होता है या होना चाहिए। क्योंकि ध्यान और अपरिग्रहत्व दोनों में अन्यत्वपने का अभाव होने से संवर-निर्जरा है। जबकि अन्य चिंताओं से हटकर मन का एक ओर लक्ष्य होने में भी चिंतन रूप क्रिया विद्यमान होने से आस्रव है—'कायवांग्मनः कर्मयोगः' स आस्रवः।' भले ही मन एकाग्र हो जाय—वह चिन्तन क्रिया तो करेगा ही। और जहां चिंतन रूप क्रिया होगी वहां आस्रव होगा ही। मन की क्रिया (चिन्तन) का नाम ही तो चिंता है। यदि चिंता—चिंतन क्रिया है तो योग है और योग को आस्रव कहा है, जो निर्जरा-प्रसंग-गत ध्यान के लक्षण से मेल नहीं खाता। प्रसंग में तो उसी ध्यान से तात्पर्य है जो संवर-निर्जरा में हेतु हो। हम पुनः स्मरण करा दें कि मन का कार्य चिंतन है और चिंतन कर्म होने से आस्रव है। इस विषय में किसी समझौते को खोज कर अन्य निर्णय सर्वथा अशक्य है।

सभी जानते हैं कि पूज्य उमास्वामी जी ने तत्वार्थसूत्र के छठवें अध्याय से आठवें अध्याय तक आस्रव-बंध का और नवम अध्याय में संवर-निर्जरा का वर्णन किया है। इनमें पहिले उन्होंने मन-वचन-काय की क्रिया को आस्रव और फिर उसके निरोध को संवर कहा है। और इसी प्रसंग में नवम अध्याय में ही तप को संवर और निजरा दोनों का कारण कहा है। और ध्यान की गणना तपों में कराई है। इसका भाव यही है कि प्रसंग में ध्यान वही (निरोध) है जो संवर-निर्जरा में कारण हो। ऐसे में ध्यान के शुभ-अशुभ या आर्त-रौद्र जैसे भेदों को इसमें स्थान ही कहाँ है जो उन्हें इस ध्यान में शामिल किया जा सके या प्रसंगगत ध्यान (चितानिरोध) को शुभ-अशुभ के आस्रव में कारण माना जा सके। वे दोनों और निचली दशा के मनोगत भाव—आर्त-रौद्र तो आस्रव ही हैं।

इसके सिवाय ध्यान के फल का जो वर्णन है और जो स्वामी का वर्णन है उससे भी स्पष्ट पता चलता है कि प्रसंग में ध्यान संवर-निर्जरा का ही कारण है और वह मिथ्यादृष्टि के नहीं होता। इसीलिए धवला में ध्यान के दो ही भेद कहे हैं—धर्म्यध्यान और शुक्लध्यान। मोह की सर्वोपशमना करने से धर्म ध्यान को और शेष घाति-अघाति का क्षय करने से शुक्ल ध्यान को ध्यान की श्रेणी में रखा गया। यहां इतना विशेष समझना चाहिए कि—दोनों ही ध्यानों में 'आप में रह जाना' ही सर्वथा इष्ट है—कायवांग्मन की क्रिया करने से तात्पर्य नहीं। 'अट्ठावीसभेयभिण्णमोहणीयस्ससव्वुवसमा-वट्टाएफलं पुधत्तविदक्क वीचार सुक्कज्झाणं।' मोहसव्वुवसमो पुण धम्मज्झाणफलं। 'तिण्णं-

Ganesh Varni Digambar Jain Institute, Naria, Varanasi

CC0.In Public Domain. Digitized by Sarayu Trust/eGangotri

घादिकम्माणं णिम्मूलविणासफलमेयत्तविदक्क अवाचीरज्झाणं ॥'

—धव. १३, ५, ४, २६ पृ. ८०-८१

'अघाइ कम्म चउक्कविणासं (चउत्थसुक्कज्झाणफलं) वही पृ० ८८। ण च णवपयत्थविसयरुइ-पच्च सद्धाहि विणाज्झाणं संभवदि, । वही पृ० ६५।

अट्ठाईस प्रकार के मोहनीय की सर्वोपशमना होने पर उसमें स्थित रखना पृथक्त्ववितर्कवीचार नामक शुक्ल ध्यान का फल है।

मोह की उपशमना करना धर्म ध्यान का फल है। तीन घातिया कर्मों का विनाश करना एकत्ववितर्क शुक्ल ध्यान का फल है।

चार अघातिया कर्मों का विनाश चतुर्थ शुक्ल ध्यान का फल है। नव-पदार्थों की रुचि (श्रद्धा) के बिना ध्यान नही हो सकता अर्थात् सम्यग्दृष्टि ही ध्यान का अधिकारी है।

सूत्र में ध्यान के स्वामी के निर्देश से तो यह और भी स्पष्ट हो जाता है कि प्रसंग में आचार्य को ध्यान का वही लक्षण इष्ट था जिसके द्वारा संवर निर्जरा होकर मोक्ष प्राप्त होता हो : यदि आचार्य को उक्त प्रसंग में आस्रवरूप मन की क्रिया (एकाग्रत्व रूप ही सही) अर्थ अभीष्ट होता तो वे सूत्र में 'उत्तम संहननस्य' पद को भी स्थान न देते। क्योंकि चिंतवन रूपी ध्यान तो साधारण सभीसंहनन वालों और मिथ्यादृष्टियों तक को भी सदा काल रहता है।

जब हम ध्यान के लक्षण-सूत्र पर विचार करते हैं तो सूत्र में एकाग्र चिंतानिरोध, ऐसा पद भी मिलता है। इसमें 'एकाग्र चिंता' से विदित होता है कि एकाग्र—एक को मुख्य लक्ष्य कर उसका चिंतवन करना ध्यान है। जरा सोचिए, जब एक वस्तु मुख्य कर ली तब वहां अन्य वस्तु के प्रवेश को अवकाश ही कहां रहा ? यदि अन्य को अवकाश (स्थान) है तो एकाग्रपना कैसे ? एकाग्र होने का अर्थ ही यह है कि जिसमें अन्य का विकल्प हट गया हो। और जब अन्य स्वाभाविक हट गया तब 'निरोध शब्द ही व्यर्थ पड़ जाता है। ऐसे में यदि आचार्य ऐसा कहते कि 'एकाग्र चिंता ध्यानम्' तब भी काम चल सकता था। इससे मन की क्रिया (एकाग्र प्रवृति) को बल भी मिल सकता था। और चारों धर्मध्यान भी ध्यान की परिभाषा में आ जाते। फिर यदि आचार्य को कहना ही था तो वे 'निरोध' के स्थान पर 'रोध' शब्द से भी काम चला सकते थे। क्योंकि सूत्र ग्रंथ में वैयाकरण लोग आधी मात्रा के कम होने पर भी 'पुत्रोत्सवं मन्यन्ते वैयाकरणाः'। ऐसा मालुम होता है कि यहां संवर-निर्जरा सम्बन्धी ध्यान के प्रसंग में आचार्य श्री को एक का चिंतवन और अन्य

Ganesh Varni Digambar Jain Institute, Naria, Varanasi

CC0.In Public Domain. Digitized by Sarayu Trust/eGangotri

चिंतवन का रोध' ऐसा अर्थ इष्ट नहीं था, इसलिए उन्होंने रोध के स्थान पर 'निरोध' शब्द का प्रयोग किया और निरोध का अर्थ है—निःशेषेण-पूर्णरूपेण रोध। सभी प्रकार से सभी रीति की क्रियाओं का रोध।

'निरोध' को तुच्छाभाव मान उसके निराकरणार्थ किसी चिंतन को पुष्ट करने में लगे लोगों को राजवार्तिककार ने स्पष्ट रूप में संकेत दिया है कि निरोध तुच्छाभाव नहीं अपितु भावान्तर रूप है। 'अभावो निरोध इति चेत्; न,·····विवक्षार्थविषयावगमस्वभावसामर्थ्यापेक्षया सदेवेति।'—उत्कृष्ट ध्यान की अवस्था में आत्मा को लक्ष्य बनाकर चिन्ता (मन की क्रिया) का निरोध किया जाता है और वहां आत्मा का लक्ष्य आत्मा ही होता है—अन्य नहीं। यह भी ध्यान रहे कि इस उत्कृष्ट ध्यान के प्रसंग में 'अग्र' शब्द भी आत्मावाची है। आचार्य यह भी कहते हैं कि ध्यान स्व-वृत्ति (आत्म-वृत्ति) होता है—इसमें बाह्य चिंताओं से निवृत्ति होती है—अङ्गतीत्यग्रमात्मेत्यर्थः। द्रव्यार्थतयैकस्मिन्नात्मन्यग्रे चिन्तानिरोधो ध्यानम्। ततः स्व-वृत्तित्वात् बाह्यध्येय प्राधान्यापेक्षा निवर्तिता भवति।' —इससे यह भी फलित होता है कि जहां अग्रशब्द अर्थवाची है अर्थात् जहां द्रव्य-परमाणु या भाव-परमाणु या अन्य किसी अर्थ में चित्तवृत्ति को केन्द्रित करने को 'ध्यान' नाम से कहा गया है; वहां 'ध्यान' शब्द का लक्ष्य शुक्ल ध्यान के दो पायों तक सीमित है।

एक बात और। ध्यान एक तप है और तप शब्द से आत्म-लक्ष्य के सिवाय अन्य का परिहार इष्ट है। इसी भाव में इच्छा निरोध को तप नाम दिया गया है—

'तिण्णं रयणाणभाविब्भावट्ठमिच्छा निरोहो।'—ध० १३, ५, ४, २०, ५४

'समस्तभावेच्छात्यागेन स्व-स्वरूपे प्रतपनं, विजयनं तपः।'

प्रव० सा० ता० वृ० ७९।१०००।१२

उक्त इच्छानिरोध में स्व और पर के भेद का संकेत भी नहीं है जिससे कि स्व की इच्छा को भी ग्राह्य माना जा सके। यहां तो ऐसा ही मानना पड़ेगा कि ध्यान में सभी प्रकार की इच्छाओं (मन की क्रियाओं) का अभाव ही आचार्य को इष्ट है और वे आत्मा में आत्मा के होने को ही उत्कृष्ट ध्यान मानते हैं जो अपरिग्रहरूप है।

किन्हीं मनीषियों ने हमें 'एक पदार्थ को मुख्य बनाकर उसके चिन्तन में (मन का) रोध करना...मन को ठहरा लेना ध्यान है' ऐसा अर्थ भी बतलाया है यानी उनके मत में निरोध का अर्थ मन का स्थापित करना है। ऐसे मनीषियों को धवला में आये 'निरोध' शब्द के अर्थ पर विचार करना

Ganesh Varni Digambar Jain Institute, Naria, Varanasi

CC0.In Public Domain. Digitized by Sarayu Trust/eGangotri

चाहिए। और यह भी सोचना चाहिए कि मन को लगाने की क्रिया से आस्रव होगा या संवर-निर्जरा ? एक स्थान पर धवला में निरोध के अर्थ को इस भांति स्पष्ट किया गया है—'को जोग णिरोहो ? जोग विणासो।' उवयारेण जोगो चिन्ता, तिस्से एयग्गेण णिरोहो विणासो जम्मि तं ज्झाणमिदि।'

—वही पृ० ८५-८६

योग का निरोध क्या है ? योग का विनाश। उपचार से चिन्ता का नाम योग है ? उस चिन्ता का एकाग्ररूप से जिसमें विनाश हो जाता है वह ध्यान है। किसी (एक की भी) चिन्ता में लगे रहना, प्रसंग गत ध्यान नहीं और ना ही उस चिन्ता में लगे रहने में, उससे संवर और निर्जरा ही है। यदि संवर निर्जरा है भी तो वह अन्य प्रवृत्ति से निवृत्ति मात्र के कारण और उसी अनुपात में है; ध्यान (क्रिया) से नहीं; वहां ध्यान नाम तो मात्र उपचार है। ऊपर के पूरे विवेचन से स्पष्ट होता है कि धवला निर्दिष्ट दो ध्यानों के प्रकाश में ध्यान वही है जो संवर-निर्जरा का हेतु हो ? सि. च. नेमीचन्द्राचार्य जी ने जो 'दुविहं पि मोक्खहेउं' रूप में दो ध्यानों को प्ररूपित किया है उनमें 'पणतीस सोलछप्पणचदुदुगमेगं' तथा पिण्डस्थ, पदस्थ, रूपस्थ जैसे परावलम्बी ध्यानों को मोक्षमार्ग में परम्परित कारण होने से व्यवहार-ध्यानरूप और 'बहिरब्भन्तरकिरियारोहो' और रूपातीत जैसे स्वावलम्बी ध्यान को निश्चय ध्यान रूप कहा है। यदि हम विचारें तो धवलाकार के शब्दों से यह बात सर्वथा मेल खाती जैसी दिखती है—

अन्तोमुहुत्तमेत्तं चिन्तावत्थाणमेगवत्थुम्हि।
छदुमत्थाणं झाणं 'जोगणिरोहो' जिणाणं तु।।' (उद्धृत)

एक वस्तु में अन्तर्मुहूर्तकाल चिंता अवस्थानरूप ध्यान छद्मस्थों का ध्यान है और योगनिरोध रूप निश्चय ध्यान अर्हन्त भगवान का ध्यान है आदि।

ऊपर के प्रसंग से यह भी स्पष्ट है कि जिन्हें आर्त और रौद्र ध्यान के नामों से सम्बोधित किया जा रहा है वे सम्यग्दृष्टी के लिए न तो व्यवहार ध्यान है और ना ही वे निश्चय की परिभाषा में आते हैं। अपितु यह कहा जाय कि वे सर्वथा अव्यवहार्य और जीव की दशा कीअनिश्चिति में कारण हैं, तो अधिक उपयुक्त होगा—यतः वे मिथ्याभाव हैं।

साधारणतः 'ध्यान' शब्द ऐसा है जो जन साधारण में चिंता या चिंतन के अर्थ में प्रसिद्ध है—'ध्यै चिंतायाम्'। इसलिए लोग इस शब्द को विचार करने जैसे अर्थ में लगा बैठते हैं। लोगों को समझना चाहिए कि यदि सर्वथा

Ganesh Varni Digambar Jain Institute, Naria, Varanasi

CC0.In Public Domain. Digitized by Sarayu Trust/eGangotri

विचार—चिन्तन ही ध्यान होता तो आचार्य शुक्ल ध्यान की ऊपरी श्रेणियों में विचार का वहिष्कार न करते जैसा कि उन्होंने किया है। वे कहते हैं—'अवीचारं द्वितीयं। 'दूसरा एकत्ववितर्क नामा शुक्ल ध्यान विचार रहित है (तीसरा और चौथा शुक्ल ध्यान भी विचार रहित है)। विज्ञपुरुष इस बात को भली भांति जानते हैं कि—'वीचारोऽर्थ व्यंजनयो संक्रान्तिः।' अर्थ और व्यंजन में विचारों की पलटती दशा संक्रान्ति कहलाती है और वीचार व विचार दोनों शब्द एकार्थक है यानी जब यह जीव अर्थ का विचार करते-करते कभी पर्याय पर चला जाता है और कभी अर्थ पर चला जाता है तब उस पलटने की दशा को संक्रान्ति कहा जाता है। और वह ऊपरी अवस्थाओं में नहीं है। अब सोचिए ! कि जब मन का अर्थ चिन्तन है और चिन्तन में पलटना अवश्यंभावी है। यदि पलटना नहीं तो चिंतन कैसा ? वह तो कूटस्थपना ही है और यदि मन कूटस्थ है तो वह मन कैसा ? फिर यदि मन संक्रान्ति नहीं करता तो वहां कौन सी क्रिया करता है वह क्रिया 'आस्रव' क्यों नहीं ? जब कि आचार्य ने मन, वचन या काय की क्रिया को आस्रव कहा है ?

उक्त सभी परिस्थितियों से हम इसी निष्कर्ष पर पहुचते हैं कि—उक्त ध्यान में मन लगाना नहीं पड़ता, अपितु मन को हटाना पड़ता है और इस मन को हटाना ही—पर से निवृत्ति करना ही अपरिग्रह है और जैन दर्शन को यही निवृत्ति इष्ट है। फलतः—इस मायने में उत्कृष्ट ध्यान और अपरिग्रह दोनों एक ही श्रेणी में ठहरते है और ऐसा किए बिना 'तपसा निर्जरा च' सूत्र की सार्थकता भी नहीं बनती और जिन-दशा तथा मुक्ति भी नहीं बनती।

परिग्रह : मूर्च्छाभाव

कहते हैं सत्य बड़ा कड़वा अमृत है। जो इसे हिम्मत करके एक बार पी लेता है वह अमर हो जाता है और जो इसे गिरा देता है वह सदा पछताता है। हम एक ऐसा सत्य कहने जा रहे हैं जिसे जन-मानस जानता है—मानता नहीं और यदि मानता है तो उस सत्य का अनुगमन नहीं करता। उस दिन एक सज्जन मेरे हस्ताक्षर लेने आ गए। दूर से आए थे, कह रहे थे—आपके सुलझे और निर्भीक विचारों को 'अनेकान्त' में पढ़ता रहता हूं। कारणवश दिल्ली आना हुआ। सोचा आपके दर्शन करताचलूं। उनके आग्रहवश मैंने हस्ताक्षर दे दिए। वे पढ़कर बोले—आप तो जैन हैं, आपने अपने को जैन नहीं लिखा—केवल पद्मचन्द्र शास्त्री लिखा है। मैंने कहा—हां, मैं ऐसा ही लिखता हूं। इससे आप ऐसा न समझें कि मैं इस समुदाय का नहीं। मैं तो

Ganesh Varni Digambar Jain Institute, Naria, Varanasi

CC0.In Public Domain. Digitized by Sarayu Trust/eGangotri

इसी में पैदा हुआ हूं, बड़ा भी इसी में हुआ हूं और चाहता हूं मरूँ भी यहीं। काश ! लोग मुझे जैन होकर मरने दें ! यानी—'ये तन जावे तो जावे, मुझे जैन-धर्म मिल जावे'। मैंने कहा—पर अभी मुझे जैन या जिन बनने के लिए क्या कुछ, और कितना करना पड़ेगा ? यह मैं नहीं जानता। हां, इतना अवश्य है कि यदि मैं मूर्च्छा—परिग्रह को कृश कर सकूं तो वह दिन दूर नहीं रहेगा जब मैं अपने को जैन लिख सकूं।

'जिन' और 'जैन' ये दोनों शब्द आपस में घनिष्ट सम्बन्ध रखते हैं। जिन्होंने कर्मों पर विजय पाई हो, वे 'जिन' होते हैं और 'जिन' का धर्म 'जैन' होता है। मुख्यता धर्म के लक्षण-प्रसंग में 'वत्थु सहावो धम्मो' और 'यः सत्वान् संसार दुःखतः उद्धृत्य उत्तमे (मोक्षे) सुखे धरति सः धर्मः' ये दो लक्षण देखने में आते हैं। जहां तक प्रथम लक्षण का सम्बन्ध है, वहाँ हमें कुछ नहीं कहना। क्योंकि वहाँ तो 'जिन' का अपना स्वभाव ही 'जैन' कहलाएगा। जैसे अग्नि का अपना अस्तित्व है वह उसके अपने धर्म उष्णत्व से है। न तो अग्नि उष्णत्व को छोड़ेगी और न ही उष्णत्व अग्नि को छोड़ेगा। ऐसे ही जिनका यह धर्म 'जैन' है, वे 'जिन' भी इसे न छोड़ेंगे और ना जैन ही 'जिन को छोड़ेगा। मोह रागादि परिग्रह को छोड़ने से 'जिन' हैं और उनका धर्म 'जैन' उन्हीं में रहेगा। और जो 'जिन' बनता जाएगा उसका धर्म जैन होता जाएगा। यह बात बड़ी ऊँची और अध्यात्म की है अतः हम इसे यहीं छोड़ते हैं। प्रसंग में तो जैन से हमारा आशय 'जिन' द्वारा प्रसारित उस धर्म से है जो जीवों को संसार के दुःखों से छुड़ाकर 'जिन' बना सके—मोक्ष सुख दिला सके। क्योंकि इस धर्म का माहात्म्य ही ऐसा है कि जो इसे धारण करता है उसी को 'जैन' या 'जिन' बना देता है कहा भी है—'जो अधीन को आप समान, करै न सो निन्दित धनवान।'

वर्तमान में अहिंसा, सत्य, अचौर्य और ब्रह्मचर्य की जैसी धुंधली-परिपाटी प्रचलित है, यदि उसमें सुधार आ जाय तो लौकिक-मानव बना जा सकता है। प्राचीन समय की सुधरी परिपाटी ही आज तक समाज और देश को एक सूत्र में बांधे रख सकी है। निःसन्देह उक्त नियमों के बिना न तो समाज सुरक्षित रह पाता और ना ही देश का उद्धार हुआ होता। लौकिक सुख-शान्ति भी इन्हीं नियमों पर आधारित हैं। इसीलिए भारत के विभिन्न मत-मतांतरों ने इन पर ही विशेष बल दिया। ताकि मानव, मानव बन सके और लौकिक, सुख-शान्ति से ओत-प्रोत रह सके। पर जैन तीर्थंकरों की दृष्टि पारलौकिक सुख तक भी पहुंची। उन्होंने जीवों को शाश्वत-परलोक—मोक्ष का मार्ग भी

Ganesh Varni Digambar Jain Institute, Naria, Varanasi

CC0.In Public Domain. Digitized by Sarayu Trust/eGangotri

दर्शाया। उनका बताया मार्ग ऐसा है जिससे दोनों लोक सध सकते हैं। वह मार्ग हैं—मानव से 'जैन और 'जिन बनने का, पूर्ण परिग्रह के छोड़ने का। अर्थात् जब स्थूल हिंसा, झूठ, चोरी और कुशील का त्याग किया जाता है तब मानव बना जाता है और जब परिग्रह की सीमा बांधी या परिग्रह का त्याग किया जाता है तब 'जैन' बना जाता है। जैनियों में जो दश-धर्मों का वर्णन है उनमें भी पूर्ण-अपरिग्रह धर्म ही साध्य है, शेष धर्म उस अपरिग्रह के पूरक ही हैं। कहा भी है —

'क्षमा मार्दव आर्जव भाव हैं, सत्य, शौच, संयम, तप, त्याग 'उपाय' हैं।
आकिंचन ब्रह्मचर्य धर्म दश सार हैं...।'

जब सत्य, शौच, संयम तप और त्यागरूपी उपायों से मन को क्षमा, मार्दव, आर्जव, रूप भावों में ढाला जाता है तब आकिंचन्य (पूर्ण अपरिग्रह) धर्म प्राप्त होता है और तभी आत्मा—ब्रह्म (आत्मा) में लीन (तन्मय) होता है। यह आत्मा में लीनता (तद्रूपता) का होना ही 'जिन' या 'जैन' का रूप है। और इसे प्राप्त करने के लिए आस्रव से निवृत्ति पाकर संवर-निर्जरा के उपाय करने पड़ते हैं और वे सभी उपाय प्रवृत्ति रूप न होकर निवृत्ति रूप (जैसा कि ध्यान में होता है) ही होते हैं। किन्हीं अंशों में हम आंशिक निवृत्ति करने वालों को भी 'जिन' या जैन कह सकते हैं। कहा भी है—

'जिणा दुविहा सयलदेजिणभेंएण। खविय घाइकम्मा सयलजिणा। के ते? अरहंत सिद्धा अवरे आइरिय उवज्झाय साहू देस-जिणा तिव्व कषायेंदिय-मोहविजयादो।'—धवला ६, ४, १, १, १०।

जिन दो प्रकार के हैं—सकलजिन और देशजिन। घातियाकर्मों का क्षय करने वाले अरहंतों और सर्वकर्मरहित सिद्धों को सकलजिन कहा जाता है तथा कषाय मोह और इन्द्रियों की तीव्रता पर विजय पाने वाले आचार्य, उपाध्याय और साधु को देश-जिन कहा जाता है। उक्त गुणों की तर-तमता में कथंचित देश-त्यागी—परिग्रह को कृश करने वाले श्रावकों को भी जैन मान सकते हैं, क्यों कि—मोक्षरूप उत्तम सुख मिलना परिग्रह कृश करने पर ही निर्भर है, फिर चाहे वह—परिग्रह अन्तरंग हो या बहिरंग या हिंसादि पापों रूप हो—सभी तो परिग्रह हैं।

ये तो 'जिन' की दैन है, जो उन्होंने वस्तुतत्व को बिना किसी भेद-भाव के उजागर किया और अपरिग्रह को सिरमौर रखा और अहिंसा आदि सभी में इस अपरि-ग्रह को हेतु बताया। पिछले दिनों हमें श्री खुशालचन्द्र गोरावाला

Ganesh Varni Digambar Jain Institute, Naria, Varanasi

CC0.In Public Domain. Digitized by Sarayu Trust/eGangotri

का पत्र मिला है। पत्र का सारांश यह है कि चारों कषायों और पांचों पापों में कार्य कारण की व्यवस्था उल्टी है। कार्य-निर्देश पहिले और कारण-निर्देश अन्त में है। यानी क्रोध, मान, माया, लोभ इन चार कषायों में अन्त की लोभ कषाय पूर्व की कषायों में कारण है। लोभ (चाहे वह किसी लक्ष्य में हो) के होने पर ही क्रोध, मान या मायाचार की प्रवृत्ति होगी। इसी प्रकार हिंसा, झूठ, चोरी, कुशील, परिग्रह इन पांच पापों में भी अन्त का परिग्रह पाप पूर्व के पापों मे मूल कारण है। परिग्रह (चाहे वह किसी प्रकार का हो) के होने पर ही हिंसा, झूंठ, चोरी या कुशील की प्रवृत्ति होगी। ये तो हम पहिले भी लिख चुके हैं कि—'तन्मूलासर्वदोषानुषङ्गा···मेवमिति, हि सति संकल्पे रक्षणादय संजायन्ते। तत्र च हिंसाऽवश्यं भाविनी तदर्थमनृतं जल्पति, चौर्यं चाचरति, मैथुनं च कर्मणि प्रतिपतते।'—त० रा० वा० ७।१७।५ सर्व दोष परिग्रह मूलक हैं। यह मेरा है, ऐसे संकल्प में रक्षण आदि होते हैं उनमें हिंसा अवश्य होती है, उसी के लिए प्राणी झूठ बोलता हैं, चोरी करता है और मैथुनकर्म में प्रवृत्त होता है, आदि :

आचार्यों ने मूर्च्छा को परिग्रह कहा हैं। और यहाँ मूर्च्छा से तात्पर्य १४ प्रकार के परिग्रह से है। मूर्च्छा ममत्व भाव को कहते हैं। और ममत्व सब परिग्रहों में मूल है। अरति, शोक, भयादि भी इसी से होते हैं। इसीलिए ममत्व का परिहार करना चाहिए। राग की मुख्यता के कारण ही जिन भगवान को भी बीत द्वेष न कह कर वीतरागी कहा गया है। यदि प्राणी का राग बीत जाय—मूर्च्छा भाव बीत जाय तो वह 'जिन' हो जाय। जिन-मार्ग में परिग्रह को सर्व पापों का मूल बताया गया है और परिग्रह त्यागी को ही 'जिन' और 'जैन' का दर्जा दिया गया है।

कुछ लोग रागादि को हिंसा और रागादि के अभाव को अहिंसा माने बैठे हैं। और हिंसा व परिग्रह में भेद नहीं कर रहे। ऐसे लोगों का कहना है कि अमृतचन्द्राचार्य ने कहा है कि—

'अप्रादुर्भावः खलु रागादीनां भवत्यहिंसेति।
तेषामेवोत्पत्तिर्हिंसेति जिनागमस्य संक्षेपः॥

ऐसे लोगों को सूक्ष्म दृष्टि से कार्य-कारण की व्यवस्था को देखना चाहिए। आचार्य ने यहां कारणरूप रागादिक में कार्य-रूप हिंसा का उपचार किया है। रागादिक स्वयं हिंसा नहीं हैं अपितु हिंसा में कारण हैं। इसीलिए आगे चलकर इन्हीं आचार्य ने कहा है—

Ganesh Varni Digambar Jain Institute, Naria, Varanasi

CC0.In Public Domain. Digitized by Sarayu Trust/eGangotri

'सूक्ष्मापि न खलु हिंसा परवस्तु निबंधना भवति पुंसः।'
'आरम्यकर्तृमकृतापि फलति हिंसानुभावेन।'
'यस्मात्सकषायः सन् हन्त्यात्मा प्रथममात्मनात्मानम्।'
'यत्खलुकषाययोगात् प्राणानां द्रव्य भावरूपाणाम्।' —पुरुषा०

हिंसा पर-वस्तु (रागादि) के कारणों से होती है हिंसा कषाय भावों के अनुसार होती है। कषाय के योगसे द्रव्य-भावरूप प्राणों का घात होता है। और सकषाय जीव हिंसक (हिंसा से करने वाला) होता है।

पहिले हमने जैन बनने में हेतु-भूत—ध्यान के प्रसंग से अपरिग्रह —पूर्णनिवृत्ति को दिखाया है। जो लोग किसी विन्दु पर मन को लगाने की बात करते हैं उसमें भी आस्रव भाव होता है फिर जो दीर्घ संसारी हैं, ऐसे लोगों ने तो ध्यान-प्रचार के बहाने आज देश-विदेशों में भी काफी हलचल मचा रखी है, जगह-जगह ध्यानकेन्द्रों की स्थापना की है। वहां शान्ति के इच्छुक जनसाधारण मनः-शान्ति हेतु जाते हैं। पर वहां वे, वह कुछ नहीं पा सकते जो उन्हें जिन. जैनी या अपरिग्रही होने पर—सब ओर से मन हटाने पर मिल सकता है। यहां आत्मा को आत्म-दर्शन मिलेगा और वहां उन्हें परिग्रहरूपी पर-विकारी भाव मिलेंगे। फिर चाहे वे विकारी भाव व्यवहारी दृष्टि से— कर्मशृंखलारूप में 'शुभ' नाम से ही प्रसिद्ध क्यों न हों। वास्तव में तो वे बंध-रूप होने से अशुभ ही हैं; कहा भी है—

'कम्ममसुहं कुसीलं सुहकम्मं चावि जाणह कुसीलं।
कह तं होइ सुसीलं जे संसारं पवेसेदि॥'—समयसार ४।१।१४५

अशुभ कर्म कुशील—बुरा है और शुभ कर्म सुशील—अच्छा है, ऐसा तुम जानते हो; किन्तु जो कर्म जीव को संसार में प्रवेश कराता है, वह किस प्रकार सुशील—अच्छा हो सकता है? अर्थात् अच्छा नहीं हो सकता।

उक्त प्रसंग से तात्पर्य ऐसा ही है कि यदि जीव परिग्रह—आस्रव जनक क्रिया को त्याग कर संवर निर्जरा में प्रयत्नशील हो—सभी प्रकार विकल्पों को छोड़कर स्व में आवे, तो इसे जिन या जैन बनने में देर न लगे। आचार्यों ने स्व में आने के मार्ग रूप संवर निर्जरा के जिन कारणों का निर्देश किया है। वे सभी कारण परिग्रह निवृत्ति रूप हैं, किसी में भी हिंसा, झूठ, चोरी जैसे किसी परिग्रह का संचय नहीं। तथाहि–'स गुप्ति समिति धर्मानुप्रेक्षा-परीषह चारित्रैः।' 'तपसा निर्जराच।'—गुप्ति समिति, धर्म, अनुप्रेक्षा, परीषहजय और चारित्र से संवर होता है और तप से संवर और निर्जरा दोनों होते हैं। उक्त क्रियाओं में

Ganesh Varni Digambar Jain Institute, Naria, Varanasi

CC0.In Public Domain. Digitized by Sarayu Trust/eGangotri

प्रवृत्ति भी निवृत्ति का स्थान रखती है—सभी में पर—परिग्रह का त्याग और स्व में आना है। तथाहि—

गुप्ति—'यतः संसारकारणादात्मनो गोपनं सा गुप्तिः।' रा० वा० ६, २, १।

जिसके बल से संसार के कारणों से आत्मा का गोपन (रक्षण) होता है वह गुप्ति है।

मनोगुप्ति—'जो रागादि णियत्ती मणस्स जाणाहि तं मणोगुत्ती।'

वचोगुप्ति—'अलियादिणियत्ती वा मौणं वा होइ वदिगुत्ती॥' नि० सा० ६भ।

कायगुप्ति—'काय किरियाणियत्ती काउस्सग्गो सरीरगेगुत्ती।' नि० सा० ७८।

समिति—'निज परम तत्त्व निरत सहज परमबोधादि परम धर्माणां संहति समिति। —नि.सा.ता. वृ. ६१

'स्व स्वरूपे सम्यगितो गतः परिणतः समितिः।' प्र० सा० ता० वृ० २४०।

'अनंत ज्ञानादि स्वभावे निजात्मनि सम सम्यक् समस्तरागादिविभाव-परित्यागेन तल्लीनतच्चिंतन तन्मयत्वेन अयनं गमनं परिणमनं समिति।'

—प्र. सं. टी. ३५

धर्म—'भाउ विसुद्धणु अप्पणउ धम्मुभणेविणु लेहु। प० प्र० मू० २/६८

'मिथ्यात्व रागादि संसरणरूपेण भावसंसारेप्राणिनमुद्धृत्य निर्विकारशुद्ध-चैतन्ये धरतीति धर्मः।' —प्र. सा. ता. वृ. ७।६१६।

'सद्दृष्टिज्ञानवृत्तानि धर्मम्।' —रत्न. ३।

'चारित्तं खलु धम्मो धम्मो जो सो समोत्ति णिद्दिट्ठो।
मोहक्खोह विहीणो परिणामो अप्पणो हि समो॥' प्र. सा. ७।

अनुप्रेक्षा—'कम्मणिज्जरणट्ठमट्ठि-मज्जाणुगयस्स सुदणाणस्स परिमलणमणु-पेक्खणा नाम।' —ध. ६. ४. १. ५५।

परीषहजय—'क्षुधादि वेदनानां तीव्रोदयेऽपि...समतारूप परमसामायिकेन... निजपरमात्मात्मा भावना संजात निर्विकार नित्यानन्द लक्षणसुखामृत संवित्तेरचलनं स परीषह जय।' —प्र. सं टी. ३५।

चारित्र—'स्वरूपे चरणं चारित्रम्। स्वसमयप्रवृत्तिरित्यर्थः।' प्र० सा० वृ० ७

तप—'इच्छानिरोधस्तपः।' —त० सू०

मन की रागादिक से निवृत्ति होना मनोगुप्ति है। झूंठ आदि से निवृत्ति या मौन वचनगुप्ति है। काय की क्रिया से निवृत्ति—कायोत्सर्ग, कायगुप्ति है। निज परमात्मतत्व में लीन सहज परम ज्ञानादि परमधर्मों का समूह समिति है। स्व-स्वरूप में ठीक प्रकार से गत—प्राप्त समित कहलाता है। अनंत ज्ञानादि स्वभावी निज आत्मा में, रागादि विभावों के त्यागपूर्वक, लीन होना, तन्मय होना, परिणति होना समिति है। अपना शुद्ध आत्म-भाव धर्म है उसे ग्रहण

5248

Ganesh Varni Digambar Jain Institute, Naria, Varanasi

CC0.In Public Domain. Digitized by Sarayu Trust/eGangotri

करो—प्राप्त करो यही धर्म है। जो प्राणी को मिथ्यात्व रागादिरूप संसार से उठाकर निर्विकार शुद्ध-चैतन्य में धरे वह धर्म है। रत्नत्रय धर्म है। चारित्र निश्चय से धर्म है समता को धर्म कहा है। मोह-क्षोभ से रहित निज आत्मा ही समय है—आत्मा है, समताभाव है, धर्म है। कर्म की निर्जरा के लिए अस्थि-मज्जागत अर्थात् पूर्णरूप से हृदयंगम हुए श्रुतज्ञान के परिशीलन करने का नाम अनुप्रेक्षणहै—शरीर भोगादि की अस्थिरता आदि का चिंतन अनुप्रेक्षा है। क्षुधादि वेदनाओं के तीव्रोदय होने पर भी—समतारूप परमसामायिक से .....निज परम आत्म की भावना से उत्पन्न नित्यानन्दमयसुखामृत से चलायमान न होना परीषह-जय है। स्वरूप में आचरण चारित्र है अर्थात् स्वात्मप्रवृत्ति चारित्र है। इच्छा का निरोध तप है।

उक्त सभी उद्धरणों में (जो संवर-निर्जरा के साधनभूत हैं) परिग्रह की निवृत्ति और स्व-प्रवृत्ति ही मुख्यतः परिलक्षित होती है और उक्त व्यवस्थाओं में प्रयत्नशील किन्हीं व्यक्तियों को भी कदाचित् हम किन्हीं अपेक्षाओं से देश-जिन या जैन कह सकते हैं। पर, आज तो जैनाचार से सर्वथा अछूता व्यक्ति भी किसी समुदाय विशेष में उत्पन्न होने मात्र से ही अपने को जैन घोषित करने का दम्भ बनाए बैठा है और विडम्बना यह कि इस प्रकार 'जैन' को सम्प्रदाय बनाकर भी कुछ लोग इसे बड़े गर्व से धर्म का नाम दे रहे हैं—कह रहे हैं 'जैन सम्प्रदाय नहीं, अपितु धर्म है। और वे स्वयं भी जैनी हैं। जब कि इस धर्म के नियमों के पालन से उन्हें कोई सरोकार नहीं। यह तो ऐसा ही स्व-वचन बाधित वचन है जैसे कोई पुरुष बांझ स्त्री का लक्षण करते हुए कहे कि—'जिसके संतान न हो उसे बांझ कहते हैं जैसे—'मेरी मां।'—भला बांझ है तो मां कैसे और वह उसका पुत्र कैसे? इसी प्रकार यदि वह सम्प्रदायी है तो जैन कैसे?

हमारा कहना तो यही है कि यदि किसी को सच्चा जैन बनना है तो पहिले वह भाव और द्रव्य दोनों प्रकार के परिग्रहों में संकोच करे। इनमें संकोच होते ही उसमें अहिंसादि सब व्रतों का संचार होगा—क्योंकि सभी पापों की जननी परिग्रह है और 'जैन-संस्कृति' का मूल अपरिग्रह है।

□□

Ganesh Varni Digambar Jain Institute, Naria, Varanasi

CC0.In Public Domain. Digitized by Sarayu Trust/eGangotri

मूल्य : दो रुपए मात्र

मुद्रक :
गीता प्रिंटिंग एजेंसी,
डी-१०५, न्यू सीलमपुर, दिल्ली-५३

Ganesh Varni Digambar Jain Institute, Naria, Varanasi